

वितस्ता

संपादिका | प्रोफ़ेसर ज़ौहरा अफ़ज़ल

No. 1
Vol. 36



हिंदी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय
श्रीनगर - 190006



वितस्ता

संपादिका
प्रो० ज़ौहरा अफ़ज़ल

हिंदी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय
(राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद द्वारा 'ए' ग्रेड)
श्रीनगर - 190006

ISSN 0975-6663

संपादक मण्डल : डॉ० दिलशाद जीलानी

डॉ० रुबी जुत्शी

डॉ० ज़ाहिदा ज़बीन

डॉ० मज़हर अहमद ख़ान

संस्करण : 2011

प्रिन्टर्स : आर्यान पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली

अनुक्रमणिका

श्रद्धांजलि

V

1. बाल पत्रकारिता की आवश्यकता तथा स्वतंत्रता
पूर्ण हिन्दी के बाल-पत्र
— प्रो. (डॉ.) विनोद तनेजा 1-8
2. महात्मा गाँधी का कर्मशील
— डॉ. सपना शर्मा 9-20
3. जम्मू-कश्मीर के हिंदी कवि बनाम कविता
— डॉ. चंचल डोगरा (शर्मा) 21-30
4. मूल्यान्वेषी कवि बलदेव वंशी
— अतुला भास्कर 31-39
5. परम्परा एवं उत्तर आधुनिकता का
द्वन्द्व दलित कविता
— डॉ. शिव प्रसाद शुक्ल 40-50
6. उत्तराखण्ड की लोक कलाओं में अभिप्राय
एवं प्रतीक
— डॉ. वेणीराम अन्धवाल, पित्रेश कुमार भट्ट 51-63
7. 21वीं सदी और शोध-कार्य
— डॉ. विजयकुमार वेदालंकार 64-74
8. आर्थिक परिस्थितियाँ और दलित-विमर्श
— डॉ. अर्चना आर्य 75-84
9. “भक्तिकालीन हिन्दी दरबारी कवि”
— सीमा (बावा) मुकेश शर्मा 85-88

10. राष्ट्रीय चेतना की संवाहक
लोक-रंगमंचीय विधा-सांग
— हनीफ़ भट्टी 89-91
- 11 अमरकान्त की कहानियों का रचना-संसार
— दिलशाद जीलानी 92-98

श्रद्धांजलि

(स्वर्गीय डॉ० मज़हर अहमद खाँ)

जीवन एक अनवरत-प्रवाह है। जीवन के रुकते ही यह प्रवाह भी रुक जाता है, हमारे सहयोगी डॉ० मज़हर अहमद खाँ के जीवन का प्रवाह भी अकस्मात रुक जाने से सभी स्तब्ध रह गए, न जाने क्या हुआ? कैसे हुआ.....? सभी शोकग्रस्त थे, पर मज़हर इन प्रश्नों से बहुत दूर जा चुका था।

डॉ० मज़हर अहमद खाँ का जन्म सन् 1962 में मेरठ में हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा बादामीबाग श्रीनगर में हुई। समर्पण, कर्मठता, सैद्धान्तिक दृढ़ता, सहजता, सरलता तथा सहृदयता की प्रतिमूर्ति डॉ० मज़हर बहुप्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व के स्वामी थे। जीवन के कठिन संघर्षों से जूझते हुए अपनी जिजीविषा के बल पर उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की। एम. ए. में स्वर्ण पदक सन् 1990 में अर्जित कर कश्मीर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग से प्रो० जोहरा अफज़ल के दिशा निर्देश में सन् 1995 में उन्होंने एम. फिल. तथा सन् 1998 में पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

लेखन के प्रति उनका रुझाव शुरू से ही रहा। उनकी कई पुस्तकें, शोध-पत्र, लेख, कहानियाँ तथा कविताएं प्रकाशित हो चुकी हैं जिन्हें काफी सराहा गया। अच्छे लेखक होने के साथ-साथ ये अच्छे शिक्षक, एवं अच्छे कार्य के मालिक थे। सन् 2007 में वे कश्मीर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में सहायक प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हुए और पूरी निष्ठा तथा लगन से विद्यार्थियों का मार्गदर्शन करते रहे। उनकी अकस्मात् मृत्यु से न केवल हिन्दी विभाग को बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य प्रेमियों को गहरा आघात लगा है, अतः हम सब उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

बाल पत्रकारिता की आवश्यकता तथा स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी के बाल-पत्र

प्रो. (डॉ.) विनोद तनेजा

पत्रकारिता एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा मानव-समाज अपने मस्तिष्क में ऐसी सूचनाएं एकत्र करता है जो किसी अकेले जन को स्वतः प्राप्त नहीं हो सकतीं। प्रो. एडविन एमरी ने ठीक ही कहा है कि “पत्रकारिता अल्प या निश्चित कालावधि में समाचारों, भावों एवं विचारों को अभिधारक कथन और सर्जनात्मक विधाओं के माध्यम से व्यापक स्तर पर वृहत्तम सम्प्रेषण की कला है। इसके द्वारा विश्व के समग्र वाङ्मय-सामयिक लोक-जीवन के परिवर्तन चक्र, सभ्यता-संस्कृति के विविध आयामों तथा ज्ञान-विज्ञान युक्त विचार शृंखला को समझने और महसूस करने की गहरी निर्लिप्त दृष्टि एवं वैज्ञानिक तर्क प्रज्ञा प्राप्त होती है।” इस दृष्टि से पत्रकारिता जन जीवन को समर्पित निःस्वार्थ बौद्धिक साधना है। इसके लिए साधक को निरन्तर सत्य का अनवरत अन्वेषण करते हुए मानवता की सार्थक सेवा के निमित्त काल की तीव्रगति को पकड़ने का श्रमसाध्य प्रयास करना पड़ता है।

पत्रकारिता का आंग्ल पर्याय ‘जर्नलिज्म’ ‘जर्नल’ अर्थात् दैनिक से निः ऋत है पर उसका अर्थ अपेक्षाकृत व्यापक है। ऐतिहासिक दृष्टि से 17वीं 18वीं शती के मध्य ‘पीरियोडिकल’ के स्थान पर ‘डियूखल’ तथा ‘जर्नल’

शब्द व्यवहृत हुए। बीसवीं शती में समालोचना और प्रकाशन को इसके अन्तर्गत माना गया। इस रूप में इस सामायिक ज्ञान की प्रस्तुति विद्या को अभिव्यक्ति की एक ऐसी मनोरम कला माना गया जिसमें तथ्यों की प्राप्ति, उनका मूल्यांकन एवं ठीक-ठीक प्रस्तुति होती है।

पत्रकारिता का मानव के सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों में जहां महत्त्वपूर्ण स्थान है वहीं शिक्षा के क्षेत्र से तो इसका चोली-दामन का सम्बन्ध है। पत्रकारिता शिक्षित समाज में ही पल्लवित व पुष्पित होती है। आधुनिक भारतीय समाज में 18वीं शती के उत्तरार्द्ध में इस विधा का पनपना पुनः प्रारम्भ हुआ। पूर्ववर्ती काल में पारस्परिक विचारों व समाचारों के आदान-प्रदान का चाहे जो भी रूप रहा हो पर मध्यकाल की राजनैतिक व्यवस्था ने प्राचीन पद्धति को लुप्त प्रायः ही कर दिया था।

यद्यपि भारत में सन् 1766 ई. में आधुनिक दृष्टि के मुद्रण-यन्त्र का आगाज़ विलियम वोल्ट्स द्वारा हो गया था और 20 जनवरी सन् 1780 में जेम्स आगस्टस द्वारा 'हिकीज़ बंगाल गजट' का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया था, इसी समय कलकत्ता गजट का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। आगे भी कोलकाता, चेन्नई (मद्रास) तथा मुम्बई से विभिन्न रूपों में अंग्रेजी पत्र निकलते रहे। इसी प्रकार भारतीय दृष्टि के प्रचारार्थ राजा राममोहन राय द्वारा ब्रह्मैनिकल मैगज़ीन और 'संवाद कौमुदी' का प्रकाशन 1821 में हुआ साथ ही सर्वश्री गंगाकिशोर भट्टाचार्य द्वारा 'बंगाल ग्याज़ेट' राजा राममोहन राय का मीरात-उल-अखबार प्रकाशित हुए पर 1823 तक ही उनका प्रकाशन हुआ और फिर विभिन्न भारतीय भाषाओं में 18वीं शती के मध्य में ही यह लता पुनः पल्लवित हुई। हिन्दी में 30 मई 1826 ई. को 'उदन्त मार्तण्ड' के माध्यम से पं. जुगल किशोर शुक्ल द्वारा इस ज्ञान लता को पुनः आरोपित किया गया। 1845 ई. में काशी में 'बनारस अखबार' के माध्यम से मराठी भाषी गोविन्दनाथ थन्ले ने इस बेल को आगे बढ़ाया। सन् 1850 ई. में तारा मोहन मैत्रेय जी द्वारा 'सुधाकर' से इसको सींचा गया। इसके बाद 1852 ई. में आगरा के लाला सदा सुख लाल द्वारा 'बुद्धि प्रकाश' का प्रकाशन हुआ। आप उर्दू में 'नुरूल अखबार' का भी संपादन करते थे। सन् 1855 ई. में शिव नारायण जी द्वारा 'सर्व हितकारक' और राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा 'प्रजा हितैषी' पत्रों ने पत्रकारिता के क्षेत्र का विस्तार किया। 1859 ई. में मनसुख

जी द्वारा 'धर्मप्रकाश' मासिक पत्र अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ। 1861 ई. में गणेशी लाल जी ने 'सूरज प्रकाश' का प्रकाशन आगरा से प्रारम्भ किया। इस प्रकार इटावे से 'प्रजाहित' आगरे से 'ज्ञान प्रकाश', 'भारत खण्ड मित्र', 'सर्वजनोपकारक' आदि पत्रिकाओं ने पत्रकारिता के विकास को आधार प्रदान किया।

सन् 1873 ई. में भारतेन्दु जी की 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के साथ ही भारतीय भाषायी विशेषकर हिन्दी पत्रकारिता की लता पुष्पित होनी प्रारम्भ हो गई और इसकी विविध शाखाएं प्रशाखाएं समाज के विविध क्षेत्रों में फैलनी शुरू हुई, और जिस पत्रकारिता का प्रारम्भ अनेक अभावों और कठिनाइयों के बीच कानपुर निवासी पं० जुगल किशोर जी ने 1826 ई. में बंगाल में किया था वही आज अपनी उन्नति की चरम सीमा को छू रही है। ज्ञान क्षुधा से प्रेरित पत्रकारिता ने सामायिक आयामों के अनुरूप अपने क्षेत्र का विस्तार करते हुए जिन क्षेत्रों को अपनी सीमा में लिया है उनमें बाल पत्रकारिता का महत्वपूर्ण स्थान है। बाल-मस्तिष्क को स्वस्थ बनाने एवं उसके समुचित विकास के निमित्त प्रारम्भ में बाल-पत्रकारिता को समुचित स्थान निर्देशित तो किया जा रहा है पर अभी उसमें और भी अधिक प्रयासों की आवश्यकता है।

पत्रकारिता यूं तो जनरंजन तथा ज्ञानवर्द्धन का माध्यम है। शिक्षा के साथ सम्बन्धित होने के कारण इस विधा का सम्बन्ध मानव जीवन के प्रारम्भ से अंत तक निरन्तर गतिमान रहता है। किसी भी विचार-धारा को पनपाने में जितना गहरा हाथ इस विधा का है वह किसी संस्तुति का मुखापेक्षी नहीं। इस रूप में बाल-जीवन जो मानवीय चेतना के विकास का प्रारम्भिक चरण है को सजाने संवारने का जितना कार्य यह विधा कर सकती है उतना कोई अन्य नहीं। बाल मन के कौतूहल व उसकी जिज्ञासा के संयोजन को इसी माध्यम से उचित दिशा निर्देश दिया जा सकता है। इस रूप में ज्ञान और विचार को शब्दों के रूप में दूसरों तक पहुंचाने का यह माध्यम जब बाल-मन के साथ जुड़ता है तो बाल मानसिकता का ध्यान रखते हुए उनको युग बोध के साथ जोड़ने का दुष्कर कार्य इसी के जिम्मे आता है। इस दृष्टि से बाल पत्रकारिता को बड़ी सावधानी से अपना कार्य करना होता है क्योंकि यही बाल मन को भटकाव से बचाते हुए ऐसे रास्ते पर आगे बढ़ने की प्रेरणा

दे सकती है जिससे उनका मन जीवन के संघर्षों से सही अर्थों में जूझने की समर्थता पा सके। यही बाल पत्रकारिता का मूल ध्येय है।

बाल पत्रकारिता का सम्बन्ध बाल साहित्य में बड़ा गहरा है। बाल साहित्य भी बाल पत्रकारिता की तरह बाल संवेदनाओं के साथ जुड़ा होता है। बाल मन की कल्पना की उड़ान बड़ी विस्तृत होती है। इसी दृष्टि से बाल पत्रकारिता के संयोजक बाल मन को उसकी कल्पना-यात्रा के साथ जोड़ते हुए बड़े सहज रूप में समाज के यथार्थ धरातल पर ले आते हैं।

बाल पत्रकारिता में उन सभी अभावों की पूर्ति की जाती है जो बालक को स्कूली शिक्षा से प्राप्त नहीं होती। इस रूप में आज के व्यस्त जीवन में जिन मानवीय संवेदनाओं की महत्ती आवश्यकता है, बाल पत्रकारिता उन सब संवेदनाओं से जुड़ी हुई है। आज भी व्यस्तता ने जिस 'बाल' को उपेक्षित कर दिया है बाल पत्रकार उसको बड़े प्यार से संजो कर उसके अस्तित्व की रक्षा करने का भरसक प्रयास करता है।

आज का बालक ही आने वाले कल का सजग नागरिक है इस दृष्टि से उसके आगामी जीवन में आने वाली आवश्यकताओं पर ध्यान रखते हुए बाल पत्रकारिता के संयोजक आगामी समाज को भी आज के समाज के साथ दृष्टि में रखते हैं। बाल पत्रकारिता के माध्यम से बच्चों का बौद्धिक एवं भावात्मक समुचित विकास संभव होता है, इसी में नयी पीढ़ी के नैतिक पक्ष के विकास व समुचित दिशा निर्देश करने का कार्य भी बाल पत्रकारिता ही करती है।

बाल पत्रकारिता संस्कारशील भावी पीढ़ी का निर्माण करने के साथ-साथ बाल-प्रतिभा को निखारने का कार्य भी करती है। इसी दृष्टि से सार्थक दिशा में प्रकाश करने वाली यह विधा बाल जीवन को समर्थ व सबल बनाने में सहायक होने के कारण एक आवश्यकता के रूप में समाज की स्वीकृति पाए हुए है।

बाल-मस्तिष्क को स्वस्थ रूप में विकसित करने का माध्यम होने के कारण बाल पत्रिका की उपेक्षा किसी भी क्षेत्र की भाषा के लिए संभव नहीं। इसी दृष्टि से हिन्दी में भी इसकी परम्परा शतायु हो चुकी है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में बाल पत्रकारिता को लेकर सर्वप्रथम प्रयास बंगला में

1818 ई. में 'दिग्दर्शन' के प्रकाशन से हुआ जबकि हिन्दी में 'बाल बोधनी' के साथ 1874 ई. में इसका बीजाकुर हुआ। भले ही भारतेन्दु जी द्वारा प्रकाशित यह प्रसिद्ध पत्रिका महिलावर्ग के लिए थी पर इसका नाम बाल मन के अनुरूप था इसके बाद भारतेन्दु जी की प्रेरणा से 1876 ई. में 'काशी पत्रिका' ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दी में भारतेन्दु युग के साथ ही बाल पत्रकारिता का आधुनिक इतिहास प्रारंभ हो जाता है जो निरन्तर गतिशीलता के साथ आगे लक्ष्योन्मुख रहा।

भारतेन्दु युग में ही 1882 ई. में 'बाल दर्पण' पत्रिका का प्रकाशन बाल पत्रकारिता का प्रथम सार्थक प्रयास कहा जा सकता। इसके साथ ही कई हस्तलिखित पत्रिकाओं के संकेत मिलते हैं पर उनका प्रमाण कम ही मिलता है। 'बाल दर्पण' के बाद एक अन्तराल-सा इस क्षेत्र में दिखाई देता है। 1891 ई. में लखनऊ से 'बाल हितकर' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके साथ ही श्री रामनारायण ने 'विद्या प्रकाश' का प्रकाशन भी किया।

सन् 1906 ई. में अलीगढ़ से बाबू शिवचरण लाल जी ने 'छात्र हितेषी' और वाराणसी से श्री किशोरी लाल गोस्वामी के संपादकत्व में 'बाल प्रकार' पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इन दोनों पत्रिकाओं में बच्चों के लिए रोचक व उपयोगी सामग्री संकलित होती थी। इसके पश्चात् मेरठ से सन् 1911 ई. में विनोद बिहारी सेन राय के सम्पादकत्व में 'बाल हितेषी' पत्रिका का प्रकाशन हुआ जो लगभग पांच वर्ष तक बच्चों का हित करती रही।

सन् 1912 ई. में नरसिंह पुर से 'मनीटर' और मुलतान अब पाकिस्तान से 'हितकारी' बाल पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ आगरा (मालवा) से 'बाल मनोरंजन' पत्रिका प्रकाशित हुई। इन पत्रिकाओं में बच्चों को प्यार से समझाते हुए मार्गदर्शन व मनोरंजन युक्त सामग्री प्रकाशित होती रही। इनका अधिक विकास नहीं हो पाया। 1914 ई. में बाल-साहित्य ने विकास गति पकड़ी। इलाहाबाद से श्रीरामजी लाल शर्मा ने छोटे विद्यार्थियों के लिए 'विद्यार्थी' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्रिका में उस समय के प्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं का प्रकाशन विद्यार्थियों के हित के लिए किया जाता था।

सन् 1915 ई. में श्रीमती गोपाल देवी के सम्पादकत्व में पं. सुदर्शनाचार्य

ने 'शिशु' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। यह पत्रिका लगभग तीन दशकों तक बालकों के साथ-साथ उनके अभिभावकों की भी प्रिय रही। सन् 1916 ई. में हेयर स्कूल कोलकाता के छात्रों ने मिल कर 'हेयर स्कूल पत्रिका' निकाली जिसका संचालन लाहोर (पाकिस्तान) के श्री देवतासिंह सेवक करते थे। 1917 ई. में 'विद्या' 'विद्यार्थी सखा' तथा 'स्कूल मास्टर' के साथ-साथ इण्डियन प्रेस प्रयास से 'बालसखा' का प्रकाशन निश्चित रूप से बाल पत्रकारिता को संवारने का काम करने वाली दक्ष पत्रिकाएं रहीं। बदरीनाथ भट्टजी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ होने वाली इस बाल सखा पत्रिका को बाल पत्रकारिता के इतिहास में मील का पत्थर स्वीकार किया जाता है। इस काल खंड की 'स्कूल मास्टर' में फूलचंद जी द्वारा ज्ञान स्कूल विषयी सामग्री को स्थान मिलता था। सन् 1920 ई. में जबलपुर से 'छात्र सहोदर' पत्रिका प्रारम्भ हुई जिसके विषय में अधिक ज्ञात नहीं होता।

सन् 1924 ई. में दिल्ली से माधवजी ने 'वीर बालक' का और काशी से महादेव गोविन्द कानिटकर के सम्पादकत्व में 'उत्साह' नामक बाल पत्रिकाएं प्रारम्भ हुई। इसी काल में कोलकाता से विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय के छात्रों द्वारा संचालित 'आशा' पत्रिका ने भी बालपन की पहचान को परखते हुए बालोपयोगी सामग्री द्वारा बाल पत्रिका के इतिहास को गति प्रदान की।

सन् 1926 ई. में पं. रघुनन्दन शर्मा के सम्पादकत्व में 'खिलौना' पत्रिका का प्रकाशन हुआ, पं. रामजी लाल शर्मा भी इस पत्रिका के साथ जुड़े रहे। इसी वर्ष बाल साहित्य के क्षेत्र में 'बालक' पत्रिका ने एक क्रांति सी ला दी। इसके संस्थापक श्री रामलोचन शरण बाल मनोविज्ञान के अधिकारी विद्वान थे उन्होंने बड़ी सूझ-बूझ से बाल मन को सही दिशा निर्देश देने का प्रयास इस पत्रिका के माध्यम से किया। इनकी परम्परा को आगे इसी पत्रिका के माध्यम से श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी और शिवपूजन सहाय आदि ने आगे बढ़ाया। विषय वैविध्य इस पत्रिका की सार्थकता सिद्ध करने में समर्थ है। सन् 1930 में श्री विश्व प्रकाश के संपादन में 'चमचम' शिशु पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इसमें सुबोध ढंग से छोटे बच्चों को ज्ञान प्रदान करने का सुंदर प्रयास किया जाता था। सन् 1931 ई. में श्री राम नरेश त्रिपाठी के सम्पादकत्व में 'वानर' पत्रिका का प्रयाग से प्रकाशन हुआ। यह पत्रिका छोटे

बच्चों को विनोद पूर्ण ढंग से ज्ञान बोध कराने का प्रयास रही। इसी वर्ष उदयपुर से श्री के. एल. श्रीमाली के सम्पादकत्व में 'बालहित' पत्रिका का प्रकाशन भी हुआ। सन् 1932 ई. में काला कांकर के राजा सुरेश सिंह जी ने 'कुमार' पत्रिका का प्रकाशन स्वस्थ बाल साहित्य का ध्येय सामने रखते हुए किया। प्रगतिशील दृष्टिकोण वाली इस पत्रिका ने बाल व्यक्तित्व के समूचे विकास के लिए प्रशंसनीय कार्य किया।

सन् 1934 में देश सेवा प्रेस इलाहाबाद से श्री रामकिशोर अग्रवाल द्वारा 'अक्षय भैया' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष श्री संतराम 'विचित्र' के संपादन में लाहौर (अब पाकिस्तान) से बालकों का भली भांति मनोरंजन करते हुए ज्ञानवर्द्धन करने वाली पत्रिका 'कमल' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। श्री संत राम जी बाल मनोविज्ञान के ज्ञाता थे इस कारण उन्होंने मित्र रूप में अपनी पत्रिका के माध्यम से बाल मन को दिशा देने का सराहनीय कार्य किया।

सन् 1936 ई. में मुरादाबाद से 'बाल विनोद' का प्रकाशन श्री रमाशंकर जेतली के सम्पादकत्व में हुआ। यही पत्रिका कुछ समय के बाद श्री दुलारे लाल भार्गव के सम्पादन में लखनऊ से प्रकाशित होने लगी। इस पत्रिका में विशेषांकों की शृंखला का बाल पत्रकारिता के इतिहास में उल्लेखनीय स्थान है। सन् 1938 ई. में पं. रामदहिन मिश्र के सम्पादन में पटना से 'किशोर' नामक बाल पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस पत्रिका में किशोर मन को पठनीय सामग्री प्रदान की।

सन् 1944 में लखनऊ से श्री प्रेमनारायण टंडन ने 'होनहार' नामक बाल पत्रिका का प्रकाशन बच्चों के मनोरंजन के लिए किया। इसी वर्ष श्री राजमल लोढ़ा के सम्पादन में मंदसौर (ग्वालियर) से 'कुमार' नामक पत्रिका का प्रकाशन नव अक्षर बोध बच्चों के लिए किया गया। इसी समय उदयपुर से 'बाल हित', इलाहाबाद से 'लल्ला', 'मदारी' तथा 'किशोर भारती' पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। ये सभी पत्रिकाएं बाल मन की जिज्ञासाओं को सही उत्तर व दिशा निर्देश देने में समर्थ पत्रिकाएं थीं पर काल की गति में उसके चक्र के साथ उठापटक न सह सकने के कारण अलग भी हो गई। सन् 1946 में प्रयाग से श्री व्यथित हृदय ने बाल मन की व्यथा हराने के लिए सुनहरे पंखों वाली 'तितली' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। स्वतंत्रता

पूर्व बाल पत्रकारिता का अन्तिम पड़ाव 1947 में श्री नाथ सिंह के सम्पादकत्व में प्रयाग से प्रकाशित होने वाली 'बाल बोध' नामक पत्रिका पर आकर रूकता है। इसके साथ ही देहली से प्रकाशित होने वाली 'बाल सन्देश' पत्रिका का नाम भी आता है।

इसके साथ ही स्वतंत्र भारत की उषा बेला में आकर हर विधा की भांति इस बाल पत्रकारिता ने भी नए रूप में निखार पाना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार आधुनिक युग के भिनसार के साथ भारतेन्दु युग से प्रारम्भ होने वाली बाल-पत्रकारिता में बाल-साहित्य की विभिन्न विधाओं का समुचित विकास करते हुए बाल मन के लिए स्वस्थ एवं सुरुचिपूर्ण ज्ञानवर्द्धन सामग्री प्रस्तुत कर अपने लक्ष्य को पूरा किया।

कृतकार्य आचार्य तथा अध्यक्ष

हिन्दी-विभाग

गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

सम्प्रति : 5016, जोशीपुरा

प्रो. खालसा कालेज, अमृतसर-143002

महात्मा गाँधी का कर्मशील

डॉ. सपना शर्मा

शील सामान्य रूप से हिन्दी भाषा का एक कम प्रचलित शब्द है। प्रायः इसके लिए चरित्र शब्द का प्रयोग होता है, पर शील और चरित्र में अन्तर है। शील में एक प्रादर्श है, जिसके कारण गरिमामय चरित्र ही शील की कोटि में आ सकता है, सामान्य शील नहीं। साहित्य के संदर्भ में इसका मानक प्रयोग करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को जाता है, जिन्होंने तुलसी के रामचरितमानस के संदर्भ में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के शील का विवेचन किया है।

“शील कार्य का व्यवहार करने का वह ढंग या प्रकार है जो या तो प्राकृतिक या स्वाभाविक हो या लोक में रहकर अर्जित किया गया हो। यह मुख्य रूप से अच्छे आचरण, व्यवहार और स्वभाव का सूचक है।”¹

मुख्य रूप से शील के दो पक्ष हैं— 1. स्वभावगुणशील और 2. कर्मशील। इनमें कर्मशील अधिक महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत आलेख में गाँधीजी का कर्मशील विचारणीय है।

कर्मशील :

कर्मशील से तात्पर्य है कर्म से जिसका शील से उद्घाटित हो।

1. रामचन्द्र वर्मा (सम्पादक), शब्दार्थ विचार कोश (दिल्ली: राजपाल प्रकाशन, 1993), पृ. 358

कर्मशील व्यक्ति बराबर ऐसे अच्छे कामों में लगा रहता है, जो अनुकरणीय हों।

महात्मा गाँधी का व्यक्तित्व एक कर्मशील पुरुष का व्यक्तित्व था। कर्मशील के अन्तर्गत उनके निम्नलिखित शील-वैशिष्ट्य विवेचनीय हैं—

1. सत्याग्रहशीलता 2. ब्रह्मचर्य एवं संयमपरकता 3. निष्काम कर्ममयता 4. विदेशोन्मुखता और 6. एकाधिकारिता बनाम बहुकेन्द्रीयता।

1. सत्याग्रहशीलता :

सत्याग्रह का अर्थ सत्य पर दृढ़ रहना या सत्य पर जोर देने से है। सत्याग्रह एक प्रकार से सत्य के लिए की जाने वाली तपस्या है। इसमें हिंसा नहीं है। सत्य के पुजारी का यह परम कर्त्तव्य है कि सत्य की कसौटी एवं उसके आधारों की रक्षा क जाए। सत्याग्रह एक आदर्श है।

महात्मा गाँधी बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। वे राजनीति में आना नहीं चाहते थे, परन्तु भारत की विषम परिस्थितियों एवं पराधीनता के कारण उन्हें राजनीति में कदम रखना ही पड़ा। राजनीति में उनका मुख्य अस्त्र था सत्याग्रह। गाँधी जी ने सर्वोदय की साधना को सत्याग्रह तथा उसके साधक को सत्याग्रही कहा। उन्होंने सत्याग्रह का अन्याय के विरुद्ध अस्त्र बताया। सत्याग्रह का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति और समाज के दोषों को दूर कर दोनों के बीच हितकर सम्बन्ध स्थापित करना था। अपने त्याग, तपस्या एवं कष्ट-सहन के द्वारा अत्याचारी या विरोधी के हृदय में लुप्त मानवता को जगाना ही सत्याग्रही का मुख्य लक्ष्य होता है। सत्य और अहिंसा सत्याग्रह के दो प्रमुख मार्ग हैं।

"According to Gandhi ji Satyagraha has been defined as action, based on truth, love and non violence.....Gandhi ji was confident that every worthy object can be achieved by Satyagraha." ¹

गाँधी का विचार था कि सत्याग्रही को आत्मबलिदान के लिए तैयार रहना चाहिए। गाँधी जी सदैव आत्मबलिदान के लिए तत्पर रहते थे। गाँधी

1. एस.ए.बरी, गाँधीज़ डॉक्टरीन ऑफ सिविल रेसिसटेंस (न्यू दिल्ली: कोलामकर प्रकाशन, 1971). पृ. 50-51

जी के सत्याग्रह के विभिन्न शस्त्रों में प्रधान शस्त्र है—असहयोग, हड़ताल, सविनय अवज्ञा, बहिष्कार तथा उपवास।

असहयोग का अर्थ है जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जाता है उसके साथ सहयोग न करना। बुराई का पूर्ण रूप से असहयोग करना। असहयोग का अहिंसक होना आवश्यक है। ऐसा कोई कार्य न करना जिससे अनैतिक कार्य को प्रोत्साहन मिले। असहयोग की अभिव्यक्ति कई प्रकारों से हो सकती है। जैसे— हड़ताल, प्रदर्शन, बहिष्कार आदि।

हड़ताल के अन्तर्गत विरोध स्वरूप सत्याग्रही कार्य को बन्द कर देते हैं। जिसका उद्देश्य सरकार को अपने पक्ष में ही प्रभावित करना होता है। हड़ताल का प्रयोग कई बार किसी कार्य के प्रति नाराजगी प्रकट करने के लिए भी किया जाता है।

सविनय अवज्ञा असहयोग की तुलना में अधिक उग्र या अधिक सक्रिय शस्त्र है। इसका अर्थ है नैतिक कानून का उल्लंघन करना। सरकार द्वारा निर्मित कानून जिन्हें जनता अनैतिक मानती है, उन्हें न मानना या जानबूझकर तोड़ना ही सरकार की अवज्ञा है।

बहिष्कार से तात्पर्य है किसी चीज को स्वीकार नहीं करना या त्यागना। बहिष्कार सामूहिक एवं व्यक्तिगत दोनों ही तरीकों से हो सकता है। गाँधी जी का मानना था कि सामाजिक बहिष्कार का उद्देश्य बहिष्कृत आदमी को चोट पहुँचाना नहीं होना चाहिए बल्कि बहिष्कार का अर्थ है कि कसूरवार आदमी के साथ समाज को पूरी तरह से असहयोग कर दे। विदेशी वस्त्रों की होली जलाने पर भी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने पर गाँधी जी के मन में विदेशियों के प्रति किसी प्रकार का द्वेष भाव न था।

सत्याग्रही का अन्तिम अस्त्र उपवास है। उपवास का अर्थ होता है अपनी या दूसरे की आत्मा की शुद्धि के लिए किया गया सभी इन्द्रियों का दमन। सत्याग्रही के लिए महात्मा गाँधी समय-समय पर उपवास का भी सुझाव देते हैं। सत्याग्रही के लिए आत्म-शुद्धि, आत्म-बल, एकाग्रचित्त एवं शान्ति का अनमोल साधन उपवास है। इसका उस व्यक्ति पर जिसके लिए सत्याग्रह किया जा रहा है, शीघ्रगामी प्रभाव पड़ता है।

गाँधी जी का मानना था कि सत्याग्रही का लक्ष्य केन्द्रित, स्पष्ट एवं

निश्चित होना चाहिए। सत्याग्रही को अपने विरोधियों पर प्रभाव बनाने के लिए बुराईयों को अच्छाई से, क्रोध का प्यार से, असत्य को सत्य से तथा हिंसा को अहिंसा से जीतना चाहिए। यदि सत्याग्रही को कहीं अपने दोष का ज्ञान हो जाए तो उसे स्वीकार कर शीघ्र प्रायश्चित भी कर लेना चाहिए।

"M.H. Desai says that a satyagrahi does not go on search of opportunity for Satyagraha out of ego or pride. He automatically comes across it. He faces the difficulties cheerfully. The more he suffers the more he tested, Satyagrah teaches both art of living and dying." ¹

2. ब्रह्मचर्य और संयमपरकता :

ब्रह्मचर्य का अर्थ गाँधी जी ने मन, वचन और शरीर से समस्त इन्द्रियों के संयम के रूप में स्वीकार किया है। गाँधी जी ने ब्रह्मचर्य के शब्द को उस रूप में जिसमें यह शब्द आमतौर पर प्रयुक्त होता है, प्रयुक्त नहीं किया। गाँधी जी के अनुसार ब्रह्मचर्य से तात्पर्य यह नहीं कि विवाह नहीं किया जाए या यह सोचना कि ब्रह्मचारी व्यक्ति विवाहित नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य से उनका तात्पर्य संयम से था। यह एक तरह से विचारों, भावों, शब्दों तथा कार्यों से अभिव्यक्ति की जाने वाली शक्ति पर नियन्त्रण से हैं। विचारों पर नियन्त्रण से तात्पर्य है कम शक्ति से अधिकतम कार्य।

व्यक्ति को अपनी शारीरिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाने के लिए दूसरे व्यक्ति के क्रोध को आत्मसात् करना चाहिए। यह गुण प्रत्येक व्यक्ति को उसके लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता प्रदान करता है।

शरीर, बुद्धि और आत्मरक्षण के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। सामाजिक और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य के अतिरिक्त आत्मिक विकास और आत्मदर्शन ईश्वर के दर्शन के लिए गाँधी जी ने ब्रह्मचर्य को अनिवार्य माना है। विषयों का सेवन करने से मनुष्य का पतन होता है ऐसा गाँधी जी मानते थे। गाँधी जी का विचार था कि व्रतबद्ध संकल्पबद्ध जीवन को आत्मसंयम से शक्ति प्राप्त होती है। आत्मसंयम प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। केवल ब्रह्मचर्य के लिए ही संयम आवश्यक नहीं, बल्कि प्रत्येक क्षेत्र संयम से किया गया

1. एस.ए.बरी, गाँधीज़ डॉक्टरीन ऑफ सिविल रेसिसटेंस (न्यू दिल्ली: कोलामकर प्रकाशन, 1971), पृ. 59

कार्य व्यर्थ नहीं जाता है। गाँधी जी ने नियन्त्रण और संयम को ब्रह्मचर्य का नाम दिया है। अपनी समस्त इन्द्रियों को बाहरी भीतरी विषय विकारों से नियन्त्रित रखना ही ब्रह्मचर्य है।

गाँधी जी के अनुसार, “ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन का अर्थ ब्रह्मदर्शन है, यह ज्ञान मुझे शास्त्र के द्वारा प्राप्त हुआ। यह अर्थ मेरे सामने शनैः शनैः अनुभव-सिद्ध होता गया। तत्सम्बन्धी शास्त्र वाक्य मैंने बाद में पढ़े। ब्रह्मचर्य में शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्म-रक्षण है।”¹

संयम एक प्रकार से आत्मानुशासन है। सदाचार में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। संयम से मनुष्य अपने विचारों को नियन्त्रण में करता है। बराबर हृदय को शुद्ध करने के लिए संयम की आवश्यकता होती है। इसके द्वारा मनुष्य ईर्ष्या और द्वेष से बच सकता है। संयम आत्मस्वतंत्रता के मार्ग की पहली सीढ़ी है।

वास्तविक स्वतंत्रता उसे ही प्राप्त होती है जो किसी बाहरी नियन्त्रण से मुक्त हो। गाँधी जी के अनुसार, “विकारी मन शरीर और इन्द्रियों पर काबू पाने के बजाए उनके वश में होकर काम करता है। इसके लिए शरीर को शुद्ध और कम-से-कम विकार उत्पन्न करने वाले आहार की मर्यादा तथा उपवास की आवश्यकता होती है।”²

गाँधी जी का मानना था कि मन को संयम में रखने के लिए निराहार बहुत मददगार है। उपवास रखने से भी व्यक्ति में संयम का भाव जागृत होता है। संयम ब्रह्मचर्य के लिए अति आवश्यक साधना है।

3. निष्काम कर्ममयता :

गाँधी जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन गीता के कर्मयोग सिद्धान्त को सामने रखकर व्यतीत किया। उनका मानना था कि ईश्वर शरीर से कभी दिखाई नहीं देता है, परन्तु वे कर्म में दर्शन देता है। महान कार्यों के लिए महान उपायों की आवश्यकता होती है।

-
1. मोहनदास कर्मचन्द गाँधी, सत्य के प्रयोग (अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन, 1957), पृ. 201
 2. मोहनदास कर्मचन्द गाँधी, सत्य के प्रयोग (अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन, 1957), पृ. 311

श्रीमद्भगवत गीता के अनुसार अपने काम को फल की कामना के बिना निष्काम भाव से करना चाहिए। यही मोक्ष प्राप्ति का द्वार है। गाँधी जी को पुनर्जन्म तथा कर्मवाद दोनों में पूर्ण विश्वास था। मनुष्य की प्रवृत्ति एवं व्यवहार उसके अतीत के कर्मों एवं व्यवहार पर निर्भर करता है। इसीलिए प्रत्येक आदमी की मानसिकता में उसकी पूर्वजन्म की छाप अवश्य होती है।

गाँधी जी का विश्वास था कि सत्याग्रह कर्म की व्याख्या है। सत्य के लिए आग्रह है। सत्य की प्राप्ति की ओर बढ़ना है। गाँधी जी कर्मठ व्यक्ति थे। गाँधी जी का काम ईश्वर का काम था यानी आत्मशुद्धि का काम।

गाँधी जी का विचार था कि कर्म सत्य से प्रेरित होना चाहिए तथा इसके साथ एवं अहिंसा रूपी साधन का साथ होना भी आवश्यक है। गाँधी जी के विचार में कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं होता है।

गाँधी जी की मान्यता थी कि आत्मा कभी नहीं मरती। शरीर की मृत्यु हो जाने के बाद आत्मा पुनर्जन्म लेती है। व्यक्ति अपने किए हुए कर्मों से कभी नहीं बच सकता है। यदि वह बुरे कर्म करता है तो उसे उसका फल भोगना ही पड़ता है। अच्छे कर्म ही मनुष्य को इस जन्म तथा अगले जन्म में कल्याण के मार्ग की ओर प्रशस्त करते हैं। इस प्रकार मनुष्य अच्छे कर्मों द्वारा अपना उद्धार करता है और बुरे कर्मों द्वारा अपना अहित करता है।

कर्म का सिद्धान्त स्वतंत्रता का सिद्धान्त है जो हमें अच्छे और बुरे चुनाव की स्वतंत्रता प्रदान करता है। हमारी आजादी हमारे प्रयत्नों पर निर्भर करती है।

“गाँधी जी ने निष्काम कर्म का उपदेश दिया है। जब व्यक्ति परिणाम में उलझता है तो कर्तव्य से विमुख हो जाता है।.....श्रेष्ठ कर्म वही है जो बंधनमुक्त होकर किया जाए।”¹

गाँधी जी कर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। उनकी दृष्टि में कोई काम छोटा बड़ा नहीं होता। व्यक्ति को प्रत्येक काम लगन के साथ सत्य के मार्ग पर चलते हुए करना चाहिए। कार्य के सम्बन्ध में उनका विचार था कि सभी कार्य समाज की सेवा के लिए होते हैं। कोई भी कार्य उच्च या नीच नहीं होता।

1. रामलाल विवेक, महात्मा गाँधी जीवन और दर्शन, (जयपुर: पंचशील प्रकाशन, 1996), पृ. 115

उनकी दृष्टि में वकील के कार्य एवं नाई के कार्य में कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को अपने काम को जो भी उसे मिला है, पूरी निष्ठा एवं सेवा की भावना से करना चाहिए।

गाँधी जी दिन-रात काम करते थे और जब उन्हें फुरसत मिलती तो वे चरखा कातने लग जाते थे। यही चरखा उनकी कर्मठता का प्रतीक है।

4. विदेशोन्मुखता बनाम स्वदेशोन्मुखता :

गाँधी जी ने देश की आर्थिक स्थिति मजबूत करने के लिए स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन एवं प्रयोग पर बल दिया। गाँधी जी भारत देश को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। इसके लिए उनका प्रयत्न था कि प्रत्येक व्यक्ति अपना काम स्वयं करे कोई किसी पर निर्भर न हो। विदेशों में बनी वस्तुओं का उपभोग किया जाए। ग्रामोद्योग का विकास हो। खादी को अधिक महत्त्व दिया जाए। गाँधी जी के अनुसार खादी एवं चरखा स्वावलम्बन का प्रतीक है। गाँधी जी के शब्दों में “खादी हिन्दोस्तान की समस्त जनता की एकता है, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता की प्रतीक है।”¹

गाँधी जी ने बड़े उद्योगों की अपेक्षा छोटे उद्योगों लघु कुटीर उद्योगों एवं ग्रामोद्योग को ही प्रधानता दी। गाँधी जी ने खाली समय में उत्पादन के साधन के रूप में चरखा चलाने को कहा। चरखा चलाने में भी आसान है। अंग्रेजों के राज्यकाल में हस्त व्यवसाय की मन्दी के कारण सैकड़ों कारीगरों पर भुखमरी की नौबत आ गयी थी, अतएव ग्रामोद्योग का पुनरुत्थान ही देहाती बेरोजगारी और निर्धनता को नष्ट करने का असली मार्ग था, जिसे गाँधी जी ने अपनाया। रोटी के साथ-साथ वस्त्र की भी आवश्यकता होने के कारण उन्होंने सूत कटाई और बुनाई के कार्यों को भी प्रोत्साहन दिया। चरखे को ग्रामोद्योगों का केन्द्रबिन्दु मानकर उसकी परिधि में कागज, साबुन, तेल आदि उद्योगों को भी जोड़ दिया।

आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी का तात्पर्य स्वावलम्बन से है। प्रत्येक ग्राम अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए स्वावलम्बी हो। हम जहां तक हो सके अपने देश की बनी वस्तुओं का उपयोग करें। जिससे स्वदेशी वस्तुओं के

1. टी. जी. प्रभाशंकर प्रेमी, आधुनिक हिन्दी कविता में गाँधीवाद का प्रभाव, (नयी दिल्ली: वसुन्धरा पब्लिशिंग हाउस, 1981), पृ. 59

प्रयोग को बढ़ावा मिले। स्वदेशी सिद्धान्त की मांग थी कि हम विदेशी वस्त्रों का उपयोग न करें क्योंकि अपने देश में ही हम वस्त्रों का पर्याप्त उत्पादन कर लेते हैं। खादी एवं ग्रामोद्योग का विकास स्वदेशी सिद्धान्त की आत्मा है। जिससे प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका कमाने का अवसर उपलब्ध हो सकता है।

गाँधी जी का स्वदेशी सिद्धान्त के पीछे लक्ष्य स्वावलम्बी देश की कल्पना थी। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति काम करे जिसे अपनी जरूरतों के लिए दूसरों पर निर्भर न होना पड़े। स्वदेश से तात्पर्य अपना देश। स्वदेशी जो देश में ही बनी हो। स्वदेशी यद्यपि प्रत्येक विदेशी वस्तु के बहिष्कार से सम्बन्धित है, परन्तु फिर भी इसे संकीर्ण धारणा नहीं माना जा सकता।

स्वदेशी सिद्धान्त के पीछे ग्रामोद्योगों के विकास एवं अंग्रेजों के काल में लुप्त हुए हस्त व्यवसाय को प्रोत्साहन देना।

गाँधी जी के स्वदेशी सिद्धान्त ने जहां विदेशी चीजों का बहिष्कार किया, वहीं स्वदेशी चीजों के प्रति लोगों के मोह को जगाया। कुटीर उद्योगों के विकास पर बल दिया, जिससे बढ़ती बेरोजगारी पर काबू पाया जा सके। कुटीर उद्योग में सूत कातना, कपड़ा बुनना, लोहे के सामान बनाना, मिट्टी के बर्तन बनाना, जूते आदि बनाना ऐसे कार्य जिन्हें गांव में गरीब-से-गरीब व्यक्ति आसानी से कर सके जिसने आर्थिक आधार मजबूत होने पर बल दिया। गाँधी जी के स्वदेशी सिद्धान्त ने जहां एक ओर बेरोजगारी को कम किया, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजों से असहयोग करके आजादी की दिशा की ओर नया कदम रखा।

5. नगरकेन्द्रोन्मुखता बनाम ग्रामकेन्द्रोन्मुखता :

गाँधी जी का मानना था कि भारत की आत्मा ग्रामों में निवास करती है। नगरों के आडम्बरपूर्ण जीवन की अपेक्षा गाँधी जी को ग्रामों का सीधा-सादा जीवन अधिक भाता था। इसीलिए गाँधी जी ने ग्रामों को केन्द्र मानकर ग्रामों में अनेक सुधार किए। गाँधी जी ने सफाई अभियान चलाया। अस्पृश्यता एवं साम्प्रदायिकता का विरोध किया।

गाँधी जी भारत को ग्रामों के समूह के रूप में देखना चाहते थे। ग्रामों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए उन्होंने ग्रामोद्योगों की स्थापना की, लघु कुटीर

उद्योगों पर बल दिया। गाँधी जी चाहते थे कि व्यक्ति अपनी प्रतिदिन की जरूरत को ग्रामों की बनी वस्तुओं से तृप्त कर ले।

गाँधी जी ऐसे आदर्श ग्रामों की स्थापना करना चाहते थे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भर हो। गाँधी जी ग्रामों को प्रमुख इकाई बनाना चाहते थे। इन ग्रामों की कार्य प्रणाली की देखरेख पंचायतों के हाथ में होगी। पंचों की नियुक्ति अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा होनी चाहिए।

ग्रामीण प्रजातंत्र में अर्थव्यवस्था स्वदेशी सिद्धान्त पर आधारित होगी। ग्राम्य गणतंत्र में कार्य सहकारिता के आधार पर किया जाएगा। ग्राम में सभी व्यक्तियों के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य होगी तथा जाति-पाति आदि के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा। आदर्श ग्राम में सभी को समान अधिकार प्राप्त होंगे। सभी लोगों को धार्मिक स्वतंत्रता भी प्राप्त होगी। ऐसा आदर्श ग्राम जहां सभी को समान राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त होगी।

गाँधी जी के आदर्श ग्राम का वर्णन करते हुए एस. एच. पाटिल लिखते हैं—

"The Gandhian idea of village swaraj is completely republic is to be managed by a panchayat of five person who are to be annually elected by the adult male and female voters.....village republic is a perfect democracy based on individual freedom."¹

गाँधी जी आदर्श ग्रामों की स्थापना करना चाहते थे, जहां शासक प्रजा के कार्यों में कम हस्तक्षेप करे। गाँधी जी बेरोजगारी का उन्मूलन करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने स्वदेशी सिद्धान्त पर बल देते हुए प्रत्येक व्यक्ति को चरखा एवं खादी जैसे ग्रामोद्योग को अपनाने के लिए कहा।

"According to Mahatma Gandhi Khadi mentality means decentralization of Production and distribution of necessities of life."²

1. एस. एच. पाटिल, गाँधी एण्ड स्वराज (नयी दिल्ली: दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, 1983), पृ. 113
2. श्रीमन् नारायण, इण्डिया नीडस गाँधी (नयी दिल्ली: एस. चांद कम्पनी प्रा. लि. 1976), पृ. 3

गाँधी के सुधार एवं स्थापना का मुख्य केन्द्र ग्राम थे। गाँधी जी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक समानता के आधार पर आदर्श ग्रामों की नींव रखना चाहते थे।

6. एकाधिकारिता बनाम बहुकेन्द्रीयता :

महात्मा गाँधी प्रशासकीय विभाग की कार्य प्रणाली को भी विकेन्द्रीयकृत देखना चाहते थे। गाँधी जी शक्तिशाली राज्य तथा एकात्मक राज्य के विरुद्ध थे। उनकी शासन व्यवस्था का आधार गाँव थे। वे आत्मनिर्भर ग्रामों की स्थापना करना चाहते थे। उनके अनुसार ग्राम आर्थिक और राजनीतिक इकाई होंगे।

भारत के गणतंत्र की कामना वे ग्रामों के समूह के रूप में करते थे। गाँधी जी अपनी भारतीय परम्परा के द्वारा निर्धारित कर्तव्य व्यवस्था के समर्थक थे। गाँधी जी की छोटी इकाई (ग्राम) के प्रति निष्ठा अधिक थी।

गाँधी जी चाहते थे ग्रामों की कार्य-प्रणाली पंचायतों द्वारा चलायी जाए। पंचों का चुनाव अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के आधार पर हो। गाँधी जी अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति के समर्थक थे। उन्होंने अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर ही कांग्रेस पार्टी के संगठन को बनाया था। गाँधी जी का मानना था कि इस शासन व्यवस्था में शक्ति एवं हिंसा का प्रयोग न्यूनतम होगा। गाँधी जी का विचार था, “पंचायती राज्य की स्थापना होने पर जनमत वह करिश्मा दिखा सकेगा जो हिंसा के बस की बात नहीं। जब तक आम लोगों को अपनी क्षमता और सामर्थ्य का एहसास नहीं होगा, तब तक जमींदार पूंजीपति और रियासतकारों का ही आधिपत्य रहेगा। जनता यदि पूंजीपति और जमींदारी जैसे अशिव के साथ असहयोग करें तो स्थिति बदल सकती है।”¹

गाँधी जी का विश्वास था कि आज का युग विकेन्द्रीयकरण या बहुकेन्द्रीयकता की मांग करता है। केन्द्रीयकरण या राष्ट्रीयकरण में अनेक बुराईयां हैं। राष्ट्रीयकरण से मजदूरों एवं किसानों के हाथ से सत्ता प्रबन्धकों के हाथ में चली जाती है। महात्मा गाँधी कारखानों पर केन्द्रित या आधारित

1. नलिनी पण्डित, गाँधी, (दिल्ली: सन्मार्ग प्रकाशन, 1993), पृ. 253

सत्ता नहीं, मजदूरों एवं कारीगरों की सम्मिलित और सहकारी सत्ता चाहते थे। वे केवल महत्त्वपूर्ण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में थे।

गाँधी जी का मानना था कि हिंसा केन्द्रीयकरण की और अहिंसा विकेन्द्रीयकरण की ओर ले जाती है। इसीलिए गाँधी जी ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ओर जोर दिया। गाँधी जी राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के विरोधी थे। गाँधी जी का मानना था कि राज्य के एक संस्था की तरह ही सीमित अधिकार होने चाहिए।

विदेशी शासन को समाप्त करने के साथ-साथ गाँधी जी देश में सभी प्रकार के शोषण से मुक्त लोकतंत्रीय व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे।

महात्मा गाँधी अप्रत्यक्ष प्रतिनिधि प्रणाली के पक्ष में थे, किन्तु उनकी प्रतिनिधि प्रणाली का दूसरा ही स्वरूप था। उनके अनुसार, “भारत की ग्राम-जनता अपने आपको अपनी इच्छा के अनुसार संगठित करेगी। ये ग्राम मिलकर जिलों की शासन व्यवस्था का प्रबन्ध करेंगे। जिलों के द्वारा प्रान्तों के प्रशासन का चयन होगा। अन्त में प्रान्तों द्वारा राष्ट्रीय सरकार का संगठन एवं चयन किया जाएगा। प्रत्येक इकाई का अपना महत्त्व होगा। सबसे पहले वे अपने शासन का प्रबन्ध करेंगे और साथ-साथ अगली सीढ़ी वाले क्षेत्र के प्रशासन में भी योगदान देंगे।¹

गाँधी जी आर्थिक क्षेत्र में भी विकेन्द्रीयकरण के द्वारा अपनी आवश्यकताओं को सीमित करके एक अहिंसक व्यवस्था कायम करना चाहते थे। गाँधी जी लघु कुटीर ग्रामोद्योगों के पक्ष में थे। गाँधी जी वर्तमान की मांग बहुकेन्द्रीयकता के पक्ष में थे।

निष्कर्षतः गाँधी जी का शील प्रादर्शशील है। गाँधी जी का कर्मशील प्रभविष्णु एवं अनुकरणीय है। इस कर्मशील के आधार पर उन्होंने देश को स्वतंत्र कराया। महात्मा गाँधी के कर्मशील ने सत्याग्रहशीलता राजनीतिक संदर्भ से सम्बन्धित है, ब्रह्मचर्य एवं संयमपरकता तथा निष्काम कर्ममयता सामाजिक संदर्भ से सम्बन्धित है, स्वदेशोन्मुखता, ग्रामकेन्द्रोन्मुखता तथा बहुकेन्द्रीयता आर्थिक संदर्भ से सम्बन्धित हैं।

1. रामलाल विवेक, महात्मा गाँधी जीवन और दर्शन, (जयपुर: पंचशील प्रकाशन, 1996), पृ. 122

समकालीन नेताओं में कर्मशील का अत्यन्त अभाव है। महात्मा गाँधी का कर्मशील अभिप्रेरक है। आज के नेता संकल्पनिष्ठ होकर उनका अनुकरण कर सकते हैं। महात्मा गाँधी का शील जहां अतीत को प्रभावित करने वाला है, वहीं भविष्य के लिए भी प्रेरणादायी है।

17-बी, मजीठा रोड,
भंडारी अस्पताल के सामने,
अमृतसर (पंजाब) - 143001

जम्मू-कश्मीर के हिंदी कवि बनाम कविता

डॉ. चंचल डोगरा (शर्मा)

जम्मू-कश्मीर राज्य की हिन्दी कविता को राष्ट्रीय हिन्दी कविता के समानान्तर चलते हुए, हम आज जिस मुकाम पर उसे खड़ा पाते हैं वहां तक इस लिखित काव्य ने पहुंचने के लिए करीब साढ़े चार सौ साल की डगर तय की है। जम्मू-कश्मीर राज्य की इस काव्य यात्रा अथवा कवि कर्म को हम स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर काल में विभाजित करके देखेंगे। राज्य के प्रारम्भिक हिन्दी काव्य का आकलन करने पर यह प्रमाणित होता है कि यहाँ की कविता राष्ट्रीय हिन्दी काव्य-धारा की अनुगामिनी रही है। (प्रसिद्ध रहस्यवादी कवियित्री रूपाभवानी से लगभग पचास वर्ष पहले सन् 1572 में 'श्री वल्लभदेव कश्मीरी' ने सुलतान नाजुक शाह के समय बीस वर्ष की अथक साधना के पश्चात् 'रामचरित्रमानस' का हिन्दी अनुवाद तुलसीकृत रामायण नाम से किया। राष्ट्रीय हिन्दी साहित्य में यह समय चूँकि रीतिकाल का था अतः इस काल के काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं) भड्डू (जम्मू-प्रान्त) के कवि दत्त ने पाँच वर्षों के परिश्रम के पश्चात् संवत् 1820 में महाभारत के द्रोण पर्व का पद्यानुवाद 'वीर विलास' नाम से किया। इन्होंने बत्तीस ग्रन्थों की रचना की। इनके द्वारा रचित कमल नेत्र स्तोत्र उत्तरी भारत में आज भी आरती के रूप में गाया जाता है—

“कमल नेत्र, कटि पीताम्बर, अधर मुरली गिरिधाम”

कवि दत्त के ही समकालीन मटन के रहने वाले भक्त गायक कवि परमानन्द (1791-1885) कश्मीरी का लोक प्रिय हिन्दी काव्य ‘राधा स्वयंवर’ हैं। श्री कृष्ण राजदान का भक्ति-रस युक्त कश्मीरी मिश्रित हिन्दी का काव्य ‘शिवलग्न’ है। इसके अलावा लक्ष्मणजू बुलबुल, ठाकुर जू मनवटी (1880-1923 ई.) हलधर जू ककरू, मास्टर ज़िन्दा कौल (1880-1966) ने भी हिन्दी में काव्य रचना की। पं. नीलकण्ठ शर्मा तथा मास्टर ज़िन्दा कौल की भाषा संस्कृतनिष्ठ थी—

स्वामिन्, सर्वेश्वर, सर्वाश्रम,

सर्वाकार प्रणाम

भगवान् विश्वात्मन विश्वंभर

विश्वाधार प्रणाम।

कवि दत्त के पुत्र शिवराम वल्लौर में स्थित भगवती सुकराला के उपासक थे एवं उनकी स्तुतियां रचा करते थे तथा प्रपौत्र त्रिलोचन ने भी हिन्दी में कुछ रचनाएं लिखी थीं। इसी समय जम्मू के कवि सुन्दर (संवत् 1991) ने महाभारत के विराट पर्व का ब्रज में पद्यानुवाद किया जिसमें उन्होंने डोगरी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। सत्रहवीं सदी के श्री त्रिलोचन ने ‘नीति विनोद’ की भूमिका में लिखा है—

“पिंगल न जानौं, नहीं जानौं रस राजको

रसिक पियारी बिहारी सों रटत हों।

भाषा को न लेश ना प्रवेश कवि रायन में,

चार अपगुन पूल सों डरत हों॥”

कविता के इस प्रारंभिक काल में उस समय भी ब्रज भाषा में भक्ति, माया, अध्यात्म, अद्वैत भावना से युक्त काव्य-रचना हो रही थी जिस समय राष्ट्रीय स्तर पर भारतेन्दु युग (1855) में कविता का मुख्य विषय देश भक्ति, सामाजिक कुरीतियों का खण्डन, आर्थिक अवनति के प्रति क्षोभ, टैक्स की भयंकरता, विधवा-विवाह, बाल-विवाह का विरोध, रूढ़ियों का खण्डन, नए सामाजिक आन्दोलन व निज भाषा प्रेम आदि था। महाराजा रणवीर सिंह के निमंत्रण पर भारतेन्दु का काशी से जम्मू आगमन एक

अदभुत घटना थी। छन्नूमल, नीलकण्ठ, मीहा सिंह, राजेन्द्र सिंह आदि उस समय ब्रज भाषा के स्थानीय कवि थे। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व तीन दशकों तक देश भर में हिन्दी के लिए जो भी आन्दोलन चला उसी का रूप जम्मू-कश्मीर राज्य के काव्य में भी प्रतिबिम्बित हुआ। सन् 1920 से सन् 1947 तक करीब सत्ताईस वर्षों तक हिन्दी के प्रचार पर विशेष बल दिया गया। द्विवेदी युग (1900-1920) के पश्चात् भी यहां सृजनात्मक लेखन की अपेक्षा भाषा प्रचार पर कार्य अधिक तीव्रता से हुआ। राज्य के इस भाषा आन्दोलन के मूल में राष्ट्रभाषा के प्रति जन-जागृति की भावना निहित थी। इस समय पं. दुर्गादत्त मिश्र, पं. गांगेय नरोत्तम शास्त्री जम्मू में ही नहीं अपितु राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त प्रतिष्ठित कवियों के रूप में जाने जाने लगे थे। भारतीय हिन्दी काव्य में के 1940 के पास जब उत्तर-छायावादी (बच्चन, अंचल एवं नरेन्द्र शर्मा) काव्य का समय था तथा प्रगतिवाद और प्रयोगवाद नई राहों पर अग्रसर होने लगे थे उस समय जम्मू-कश्मीर में साहित्य-सृजन की भूमि तैयार की जा रही थी। हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन (1930), हिन्दी प्रचारिणी सभा जम्मू, कार्यरत थी। सन् 1940 में हिन्दी साहित्य मण्डल की स्थापना हुई—प्रारम्भ में सर्वश्री धर्मचन्द प्रशान्त, श्यामलाल शर्मा, शंकर शर्मा 'पिपासु', नारायण मिश्र, रामनाथ शास्त्री, दीनूभाई पंत, गंगादत्त 'विनोद', गोपीनाथ 'कौशिक', सुशीला तुली, राज तुली, पातञ्जल देव, सुभाष भारद्वाज, वेद पाल दीप आदि मण्डल से जुड़े थे। मण्डल की गोष्ठियों में पढ़ी जाने वाली रचनाओं के संबंध में रामनाथ शास्त्री का कथन है कि—“हिन्दी साहित्य मण्डल जम्मू की गोष्ठियों में पढ़ी जाने वाली रचनाओं में शृंगार, यौवन, अनुराग विषय निषिद्ध थे अतः समाज-सुधार, आचार संहिता विवेचन, देशानुराग, छायावाद आदि विषय चुनने का प्रोत्साहन दिया जाता था।” (दो चाँद..... दो शब्द-प्रो. रामनाथ शास्त्री) ये रचनाएं लिखित रूप में उपलब्ध नहीं हैं अतः प्रो. सुभाष भारद्वाज का कथन उपयुक्त ही है कि “1947 से पहले हिन्दी कवियों की कोई प्रकाशित काव्य कृति (छोटी-मोटी फुटकर रचनाओं को छोड़कर) उपलब्ध नहीं हैं अतः मूल्यांकन का आधार न होने के कारण कुछ कहना विवादास्पद है।” —(प्रो. भारद्वाज-शीराजा अंक 62, पृष्ठ 7)। इन संस्थाओं ने हिन्दी कवियों को एक मंच प्रदान किया जो इन संस्थाओं की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती

है। संस्थाओं के कारण ही एक कवि समुदाय तैयार हुआ था। सुश्री पुरुषार्थवती, दीनूभाई पंत, शकुंतला सेठ, श्रीमती कृष्णा गुप्ता, सुश्री सुशीला तुली, राज भल्ला, सत्यवती मलिक, दुर्गाप्रसाद काचरू, दीनानाथ नादिम, पृथ्वी नाथ 'मधुप', बंसीलाल सूरी, श्यामदत्त 'पराग', शंकर शर्मा 'पिपासु', रामकृष्ण शास्त्री 'अव्यय', मनसाराम 'चंचल', डॉ. अयूब प्रेमी की रचनाएं एक ओर छायावादी मानसिकता लिए हुए थी तो दूसरी ओर प्रगतिशीलता की ओर उन्मुख हो रही थीं। पं. हरदत्त शर्मा 1948 तक जम्मू में काव्य सृजन करते रहे। पांचवे दशक तक की कविता में भाषागत सरलता, छायावादी चित्रण, मादकता, गीतात्मकता, प्रगतिवाद की शोषण विरुद्ध चेतना और भारतेन्दु युगीन भाषा प्रेम, देश प्रेम एवं समाजसुधार (भारतेन्दुगीन प्रवृत्तियां) एक साथ मिलता है। पांचवे दशक में ही सुभाष भारद्वाज का उग्र एवं वामपंथी रूप राजनैतिक व सामाजिक विसंगतियों के विरुद्ध आक्रोश में दिखलाई पड़ा—

“ये भिखमंगों के भगवान / ये भूखों के भाग्य विधाता / देख रहे हैं आज तमाशा” अथवा “गीता और कुरान ने देखा / अल्लाह और भगवान ने देखा / नेहरू की सरकार ने देखा / दिल्ली के दरबान ने देखा / रेल की पटरी के ऊपर रख दी उसने अपनी छाती।” —इन्होंने छन्दोबद्ध मुक्त छन्द एवं छन्द युक्त तीनों शैलियों में रचना की। जम्मू-कश्मीर राज्य के सुभाष भारद्वाज को नई कविता का सूत्रधार माना जा सकता है। 1960 तक आते-आते कविता के कथ्य और शिल्प में अभूतपूर्व परिवर्तन आया। कविता ने एक स्फूर्तिमय अंगड़ाई ली और राष्ट्रीय हिन्दी काव्यधारा के सम्मुख जा खड़ी हुई। राष्ट्रीय स्तर पर अब तक प्रयोगवाद के पश्चात् अकविता, सचतेन कविता, क्षणवादी कविता, ठोस कविता, यथार्थवादी, अतियथार्थवादी, नग्न कविता आदि कई वाद जन्म लेकर अंततः नई कविता में ही विलीन हो गए थे। अब राज्य की कविता राष्ट्रीय स्तर के काव्य का अनुगमन न करते हुए सहगामिनी बन गई एवं तुकबन्दी, लय तथा छन्द को त्याग नई कविता की राह पर चलने लगी। शशिशेखर तोषाखानी, रतन लाल शांत, डॉ. ओम गुप्त, पृथ्वीनाथ 'मधुप', रमेश मेहता, डॉ. अशोक जेरथ, ज्योतिश्वर पथिक, सुतीक्ष्ण कुमार 'आनंदम्', अग्निशेखर, निर्मल विनोद, उषा व्यास आदि कवि इस धारा में शामिल हुए। अपने प्रारंभिक रचना काल में लीक पर चलने

वाले मोहन 'निराश' ने अंततः लीक छोड़ी और कहा, "अब मैं अन्य बिन्दुओं के साथ ऐसे धरातल पर आ चुका था, जब सारा वातावरण था पर मैं नहीं था। अपने से अलग होकर खुद के विषय में सोचना अनिवार्य हो गया। नया भावबोध, नई चेतना, नवीन शिल्प ने जन्म लिया। अब जरूरी हो गया था भीड़ के साथ-साथ चलते हुए भीड़ से अलग होकर सोचना कि कौन-सी दिशा है इस मोड़ की।" — "चीड़ों में ठहरी बयार"।

"शब्द बासी हो गए हैं। सब अर्थ बासी हो गए। हर बात बासी हो गई।" — ('एक अपरिचित आकाश')। जन-कल्याण की भावना, देश-प्रेम, प्रणय व शृंगार, स्वच्छन्द प्रेम की आत्माभिव्यक्ति, प्रगतिशील चेतना, वैयक्तिक अनुभूतियां कविता का विषय रहे। इस समय भी कहीं भाव-बोध नया था तो शिल्प परंपरागत, कहीं भाव-बोध परंपरागत है तो शिल्प नया। अस्तित्ववादी चिंतन से प्रभावित कविताओं में औद्योगिकरण व मशीनीकरण के सम्मुख मानव-शक्ति लघु है, बौनी है परिणामस्वरूप अजनबीयत, अकेलापन, अलगाव, घुटन, संत्रास और कुण्ठा के भाव भी उत्पन्न हुए। नवीनता का आग्रह प्रत्येक कवि में अवस्थित था। डॉ. रत्नलाल शांत ने कल्पना से यथार्थ के धरातल पर उतरने के लिए अपने काव्य संग्रह 'खोटी-किरणें' में स्पष्टतया कहा, "कश्मीर के कवि से अनायास ही आशा की जाती है कि प्रकृति-सौंदर्य को प्रकट करे। औरों की तो नहीं कह सकता लेकिन मैं इसे ऊब की हद तक जीते-जीते थका हूँ। आप से भी यही चाहता हूँ कि इस सौंदर्य को केवल पहाड़ों में न देखिए, घाटी में उतर कर इसे लोगों की वृत्ति में ढूँढ़िए तो जान पाएंगे कि अब केवल एक आवरण, एक लबादा और एक मुखौटा रह चुका है।" उपमानों का परंपरागत अर्थ खोने लगा है— "सूरज मेरे यहां से कभी नहीं गुजरता / अपनी अंधी कोठरी के झरोखों से / मैंने बाहर झांक कर- / उषा के फल संभालती मालिन से / और तारों की बंद होती दुकानों से जितनी भी किरणें खरीदी थीं / वे सब खोटी निकली / --(खोटी किरणें) — 'रत्नलाल शांत')।"

देश की चरमराती राजनैतिक व्यवस्था पर कटाक्ष करते हुए रमेश मेहता कहते हैं— "व्यवस्था का स्वास्थ्य / ठीक रहे / इसीलिए / खोज रहा है / सारा देश / एक गुलाब / — ('तिनका-तिनका घोंसला' - 1987, पृ. 15) "

स्थापित मान्यताओं के प्रति आक्रोश- "आजाद घुमा करता है धर्म का

बैल / पुराने इसे पूजते हैं। छोटे इससे डरते हैं / पुरानों का यह पूज्य है / इसीलिए कि यह उन्हीं की तरह बूढ़ा है।" —('सेतुओं की खोज'-डॉ. ओम गुप्त)।

अस्तित्ववादी चिंतन की भांति मनोविज्ञान की शाखा मनोविश्लेषणवाद का भी कवियों पर गहरा प्रभाव दिखलाई देता है। यांत्रिक वातावरण के कारण जब चारों ओर मशीनों की गड़गड़ाहट सुनाई देती है शोरभरे ऐसे व्यस्त समय में भी कवि को वह आंख दिखलाई दे जाती है जिसके सहारे ऊबाने वाली घड़ियां सरस होकर बीत जाती हैं तथा उसके अचेतन में कुलबुलाती अभुक्त कामनाएं संतुष्ट होने लगती हैं— "पसीने में पिघलती ज़िंदगी / अचानक फूल की पंखुरी बन जाती / गर्म सांसों में गर्म सोंसों मिलकर / अजीब ठंडक बरसा देती हैं।" —('सेतुओं की खोज'-डॉ. ओम गुप्त पृष्ठ-16)

समाज के भय के कारण कवि प्रेयसी को रहस्य के आवरण में ही रखने के लिए इतना विवश हो जाता है कि वह उसके अस्तित्व को ही नकार देता है— "तुम्हारे विषय में / यदि कोई पूछे / तो क्या बताऊं / कुछ भी तो नहीं है बताने को / पर / ये लोग विश्वास नहीं करते / कि तुम्हारा / कभी अस्तित्व ही न था।" —(प्रश्न तुमसे-आदर्श पियूष- पृष्ठ 14)

व्यक्तिगत अनुभूतियां समष्टिगत सत्य का उद्घाटन करती हैं— "मेरा हंसना-हंसाना नहीं है दोस्त / जिस तरह बच्चे का रोना रोना नहीं होता / बच्चे के रोने से उसके बढ़ने का एहसास होता है / मुझे मेरे हंसने से घटने का आभास होता है।" —('आहत चीढ़े'- डॉ. अशोक जेरथ)

नई कविता में कवियों ने मिथक, बिम्ब व प्रतीक विधान की उपेक्षा नहीं की। छायावादी अतीन्द्रिय व लोकेत्तर बिम्बों के स्थान पर नई कविता में युगबोध दर्शाते यथार्थ को आधार बना कर जीवन के वैविध्य, जटिलता और वैचारिक संघर्ष के सशक्त बिम्बों की स्थापना की। बिम्ब के केन्द्र में यदि स्पष्ट है तो प्रतीक के केन्द्र में मानव समाज और उसके समृद्ध अनुभव रहते हैं। बिम्ब का धरातल नितांत वैयक्तिक होता है तथा प्रतीक के समक्ष समाज हमेशा रहता है। आत्मानुभूत रचनात्मकता के कारण बिम्ब में अनिश्चित अर्थों की अपार संभावनाएं अवस्थित रहती हैं जबकि प्रतीक का अर्थ

निर्धारित करने वाला समाज है। प्रतीक पुरातन की नयी व्याख्या न होकर नवीन जीवन सत्यों और मूल्यों की टकराहट भी अभिव्यक्त करते हैं। बिंब स्वयं अपना लक्ष्य न होकर किसी ओझल, अंतर्निहित रूप संवरण को पारदर्शी बनाने का माध्यम है उसी तरह प्रतीक अपने कथ्य की प्रतीति कराते हैं। काव्य-बिम्ब की अतिवादी धारणा के कारण हुलमें ने माना कि काव्य-वस्तु जैसी कोई चीज़ नहीं होती। कविता केवल बिम्ब और रूपक का मामला है। टी.एस. इलियट का Objective correlative सिद्धान्त बिंब को अतिवाद से बचाने का प्रयास है जिसके अनुसार विशिष्ट अंतर्वेगी सूत्रों को खोजने के लिए वस्तुओं के समंजन (सेट), एक स्थिति (सिचुएशन) तथा घटनाओं की एक लड़ी कवि को चाहिए। वस्तुतः बिम्ब जहां कविता की शक्ति बढ़ाते हैं वहीं वे सार्थक उपादान हो सकते हैं। तीसरे सप्तक के कवि केदारनाथ सिंह से पहले बिंब विधान को किसी ने अपने वक्तव्य में प्रमुखता नहीं दी। केदारनाथ सिंह ने घोषित किया कि वे कविता में सबसे अधिक ध्यान बिंब पर देते हैं।

डॉ. रत्नलाल शांत- “रात भर बर्फ़ गिरी / जिसको निर्दय नल निर्वसन छोड़ गया / उस दमयंती / पेड़ को / जाने किसका प्यार / श्वेत वसन ओढ़ा गया / पेड़ की वह छाया सनाथ थी / चन्द्रवंशी नल वहां सुस्ताए थे / लेकिन आज रात जो बर्फ़ गिरी / अमागी तिमिर-वंशी, छायाएं भी उभर गई।”
—(‘सृजन के क्षण’-पृष्ठ 11)

अथवा “गुलमोहरों की उदास उंगलियां / सरूओं में / धुंध के निशां हुई / कितनी संवेदनाएं इस तरह / गूंगे की आंख का / बयां हुई।” -निर्मल विनोद

उषा व्यास का शब्द बिंब- “सोनाली सांझ के / गंध डूबे आमंत्रण में / खोजते रहे चुपचाप / लहके-लहके रोशनी बिंधे बोदल / झनकते नूपुरों के अर्थ / और शापित आकाश की रगों में / टीसता रहा / धुंआ-धुंआ दर्द।”
—(शीराजा पूर्णांक-35)

भारतीय हिन्दी काव्य धारा की भांति ही राज्य के कवियों के काव्य में नई सोच, शिल्प के नए धरातलों की तलाश, नए अनुभव, स्थापित मान्यताओं के प्रति आक्रोश, चरमराती आस्थाओं के प्रति विक्षोभ, दोहरे मानदण्डों के

प्रति झल्लाहट, राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक विसंगतियों पर कटाक्ष, दीन दलितों के प्रति संवेदना आदि विषय रहे। सोवियत रूस के टूटने से होने वाले सांस्कृतिक विस्फोट ने बुद्धिजीवियों को हिलाकर रख दिया, सोच में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक परिवर्तन दिखाइ दिए; जम्मू-कश्मीर राज्य के काव्य में इनकी चर्चा न के बराबर हुई हांलाकि कुछ कवियों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों को अपनी रचना का विषय बनाया है।

जिनेन्द्र 'उधमपुरी', डॉ. अशोक जेरथ, सत्पाल श्रीवत्स, बलनील देवम, सुतीक्ष्णकुमार, प्यारे सतीश, निदा नवाज, डॉ. जमीलमीर, आनंदम्, क्षमा कौल, उपेन्द्र रैणा, हरिकृष्ण कौल, अनिलकुमार, 'आज़ाद', चंचल डोगरा आदि अनेक कवियों ने नई कविता की धारा को समृद्ध किया है।

पिछले पन्द्रह वर्षों से राज्य के काव्य जगत में एक नई काव्य प्रवृत्ति जन्मी है। 1990 में कश्मीर से एक समुदाय को बड़ी संख्या में निर्वासित होना पड़ा। विस्थापन के कारण, पीड़ा, आक्रोश, पराजय बोध, आन्तरिक टूटन आदि कई भावों ने लेखन में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई। विस्थापित कवियों ने विस्थापन का दर्द भोगा है, उस पीड़ा को सहा है तो राज्य के अन्य कवियों ने उसे महसूस किया है, महसूस करना कमतर नहीं आंका जा सकता, दर्द का जुड़ाव केवल सहानुभूति नहीं होती, हर पल उस दर्द से गुज़रना होता है, संवेदनशील होता है रचनाकार।

विस्थापित देह नहीं / सोच होती है / और सोच के घाव / कभी नहीं भरते / -('ठहरा हुआ कोहरा'- जितेन्द्र उधमपुरी)

डॉ. रत्नालाल शांत का 'कविता अभी भी' (1997), अग्निशखर के मुझसे छीन ली गई मेरी नदी (1996) तथा कालवृक्ष की छाया में (2002), महाराज कृष्ण संतोषी के बर्फ पर नंगे पांव (1993), यह समय कविता का नहीं (1996) तथा वितस्ता का तीसरा किनारा (2005) निर्वासन में रचे काव्य संग्रह हैं जिसमें विस्थापित की मानसिकता एवं भूमंडलीकरण के कारण उत्पन्न चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में की जा रही हैं बीसवीं सदी के आखिरी दशक में फ्रेंडरिक जेमसन ने उत्तर-आधुनिकतावाद को पूंजीवाद के मौजूदा चरण का सांस्कृतिक तर्क करार दिया था। जेमसन का कहना था कि 'सहस्राब्दी का भविष्य स्वप्न उलटकर वर्तमान के अतिरेकपूर्ण समारोह और

पुनर्रचना में बदल जाता है। यानि भविष्य के बारे में हम जितना भी पूर्वानुमान लगाते हैं, उतना ही हमारे ऊपर एक अजीब सा एहसास तारी होता चला जाता है। तरह-तरह के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक विचार अनुपयोगी लगने लगते हैं यदि इसे तीसरी दुनिया के एक देश पर आरोपित किया जाए तो साफ हो जाता है कि उन्नीसवीं सदी ने आधुनिकता की जो विचारधाराएं हमें थमायी थी, वे गहरे संकट की शिकार हो चुकी हैं। राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद दक्षिण एशिया की ज़मीन पर अपने महान आश्वासन पूरा करने में नाकाम साबित हुए हैं। —(भारत का भूमंडलीकरण- सं. अभयकुमार दुबे

राष्ट्रवाद का कारागार और निराकार साइबर स्पेस की बगावत- रवि सुंदरम्- पृष्ठ 131-132)

प्रौद्योगिक विकास के कारण बाज़ारवाद जन्मा जिसके केन्द्र में उपभोक्ता है। साइबर स्पेस ने केवल विकास के ही नहीं बल्कि विकासवादी आधुनिकता के खिलाफ अनंत संभावनाओं के द्वार खोले हैं। तीसरी दुनिया तक आते-आते साइबर-स्पेस के मायने बदल जाते हैं। दुनिया उन्हें बहुत छोटी व अपनी मुट्ठी में लगने लगती है। इंटरनेट द्वारा तीसरी दुनिया की संस्कृतियों को अजूबे की तरह प्रस्तुत किया जाता है। भारत में साइबर स्पेस के ज़रिए होने वाली अनुभूतियां एक ऐसी नवीनता का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसका अर्थ अबूझ है। समय रहते साहित्यकार को इस पर गंभीरता से विचार करना होगा। भारतीय चैनलों द्वारा भी जिस तरह संस्कृति पर आक्रमण किया जा रहा है वह गंभीर चिंता का विषय है अपनी सांस्कृतिक विरासत को इस सूचना-प्रसारण तकनीकी के अंधड़ में सुरक्षित रखना हमारी ज़िम्मेदारी है।

संदर्भ पुस्तकें

1. जम्मू-कश्मीर का स्वातंत्रयोत्तर साहित्य: एक विवेचन-डॉ. राजकुमार प्रथम संस्करण-1999
2. जम्मू-कश्मीर के हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ. अशोक जेरथ प्रथम संस्करण 2002
3. हमारा साहित्य-1978
4. हमारा साहित्य-1977
5. शीराज्ञा-फरवरी-मार्च-1973
6. 'प्रतिभा' पुष्प-3, मधुरिमा-1973
7. भारत का भूमंडलीकरण-संपादक अभय दुबे-2003
8. कविता की तीसरी आंख-प्रभाकर श्रोत्रिय
9. जम्मू-कश्मीर के कवियों के काव्य-संग्रह

मूल्यान्वेषी कवि बलदेव वंशी

अतुला भास्कर

साहित्य में 'मूल्य' शब्द एक विशिष्ट अर्थ रखता है। इस संदर्भ में मूल्य शब्द समाज कल्याण अथवा बहुजनहिताय वाले व्यापक अर्थ तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसमें लोक-कल्याण की भावना के साथ सुन्दर और सत्य भी समाहित है। साहित्य में वर्णित आचरण कई बार व्यक्ति या घटना सम्मत नहीं होते फिर भी उनका अपना मूल्य होता है जो कि साहित्यिक मूल्य कहलाता है। मूल्य कृति का ऐसा गुण है जिसके उद्भव से कृति मूल्यवान बनती है। अगर कहा जाए कि मूल्य कृति की कोटि निर्धारित करता है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

मूल्य काल का अंग है और काल एक गतिशील धारा है। उसका अंग होने के परिणामस्वरूप मूल्य भी परिवर्तित होते हैं। साहित्य युगीन प्रभाव से असम्पृक्व नहीं होता। रामधारी सिंह 'दिनकर' कहते हैं—परिवेश वह वातावरण है जिसमें साहित्य लिखा जाता है और मूल्य वे नैतिक मान्यताएं हैं, साहित्य जिनका समर्थन और विरोध करता है।

साहित्य के स्तर पर कुछ लेखक व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों पर बल देते हैं तथा कुछ समाजनिष्ठ मूल्यों पर। व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों के पक्षधर व्यक्ति स्वतंत्रता पर बल देते हैं, जबकि समाजनिष्ठ मूल्यों को महत्त्व देने वाले व्यक्ति स्वतंत्रताकी उपेक्षा कर सामाजिक जीवन पद्धति को इतनी महत्ता

प्रदान करते हैं कि सामाजिकता केवल एक यांत्रिक सिद्धान्त बन कर रह जाती है।

विचारात्मक कविता अनुभूति की प्रमाणिकता के स्थान पर संवेदना को प्राथमिकता देती है। इसीलिए अनुभूतिजन्य संवेदना अधिक महत्वपूर्ण बन जाती है। कवि इसी संवेदना के माध्यम से भौगोलिक और समय की दूरी की उपेक्षा करते हुए वस्तुओं से संवेदनात्मक धरातल पर सीधे साक्षात्कार करता है। कविता में विचार की अंतरंगता की अनिवार्यता स्वीकारते हुए बलदेव वंशी कहते हैं—“वैचारिकता का माध्यम यदि कविता को बनाना है तो उसे सबसे पहले कविता बनाने का प्रयास करना होगा।”

‘दर्शक दीर्घा से’ वंशी का प्रथम काव्य संग्रह है, इसमें रोजमर्रा की अनुभूतियों का यथार्थ चित्रण किया गया है। यह चित्रण आरोपित विचारधारा के स्थान पर जीवन की टूटती, जूझती एवं संघर्षशील अनुभूति का लेखा-जोखा है। कवि अनुभूत सत्यों को ही पहल देता है। जीवन की विसंगतियों का निरन्तर सामना करने पर भी कविता में टूटन और निराशा नहीं है अपितु सुधारात्मक एवं स्वस्थ दृष्टिकोण है। चही कारण है कि इस संग्रह की कविताओं में खीझ, झुंझलाहट और थोथी बयानबाजी की जगह कवि ने अपने परिवेश को अपनी विचारधारा का अंग बनाया है। जीवन की लड़ाई लड़ते हुए भी वंशी तर्क और मानव मूल्यों के धरातल को नहीं छोड़ते। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा मानवीय स्तर पर हो रहे अन्याय शोषण और अत्याचार को कवि बिना किसी डर और दबाव के निर्भय होकर उद्घाटित करता है। किसी भी रचनाकार के निजी व्यक्तित्व का प्रभाव बहुदा उसकी रचनाओं पर परिलक्षित होता है।

इस संग्रह में संकलित कविता ‘आत्मालाप’ में कवि अपने चारों ओर के वातावरण में सबकी मौजूदगी में भी स्वयं को अकेला महसूस करता है—
प्रत्येक स्थान से / मिट्टी की तरह / सरका हूँ / नीचे / कालक्रम मुझमें से
होकर / इस प्रकार जीया है कि मुझे उसने / सदा / जूते की तरह लिया
है /

इसी प्रकार एक अन्य कविता में कवि कहता है— मैं / अपने ही भीतर
कई स्तरों पर / उदासीनता की संभावनाओं से उधेड़ता / पड़ा हूँ /

वे लोग जो अपनी स्वार्थ सिद्धी में व्यस्त हैं और वे जो उपेक्षित, शोषित व अत्याचार सहन कर रहे हैं उनकी पीड़ा को साफगोई से कवि व्यक्त करता है—

सब लोग / इस प्रकार व्यस्त हैं / मस्त हैं / कि खिंचती हुई खाल / कोई भी नहीं देख रहा /

वास्तव में आज प्रत्येक व्यक्ति इतना स्व-केंद्रित हो गया है कि दूसरे की खाल खींचने में संकोच नहीं करता। ऊपर से संतुष्टि तथा लोगों का भला करने की चाह का मुखौटा ओढ़ना शायद आज के मानव की नियति बन गई है।

देश में व्याप्त अराजकता अव्यवस्था तथा हिंसा को कवि आत्मिक स्तर के साथ-साथ शारीरिक स्तर पर भी अनुभव करता है—

जहां पेट दबाता है शब्दों की कौर.....

लोच खाकर गूंगी हो जाती है जिह्वा

अन्यथा शून्य का पेट भरने

व्यर्थ भरने के सिवा क्या है?

जहां देश हो गयी अपनी चमड़ी को

छीलना होता है देश के नाम।

बलदेव वंशी की कविताएं लोरी देकर सुलाने के युग की कविताएं नहीं हैं अपितु वे तो सो रहे मानव को झकझोर कर जगाने और सोचने के लिए बाध्य करने वाली हैं। यही कारण है उनके चारों काव्य संग्रह 'दर्शक दीर्घा से', 'उपनगर में वापसी', 'अंधेरे के बावजूद' और 'बच्चे की दुनिया' की अधिकांश कविताएं सुप्त वृत्तियों पर प्रहार करती हैं एवं यथार्थता की अनुभूति को और भी धारदार बनाती हैं। 'दर्शकदीर्घा से' संग्रह की कविताएं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के इतिहास का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं। इन कविताओं में जहां एक ओर भ्रष्ट एवं लक्ष्यहीन समाज का चित्रण है वहां दूसरी ओर शोषकों के प्रति व्यंग्यात्मक प्रहार भी। कवि ने तत्कालीन समाज में व्याप्त राजनैतिक और आर्थिक दोनों प्रकार के अत्याचारों को अपनी कविताओं द्वारा सटीक शब्दों में अभिव्यक्त किया है, परन्तु इन कविताओं में कवि का रुख आक्रामक नहीं रहा। उसने समाज में व्याप्त विसंगतियों पर

प्रहार किया है परन्तु यह प्रहार संकेतात्मक कटाक्ष बन कर रह गया है। ऐसा लगता है कि कवि रोजमर्रा की यातनाओं से टूट गया है। परन्तु इस टूटन के बावजूद कवि ने वास्तविकता से पलायन नहीं किया है। स्थितियों के बीच जूझते हुए उनसे ऊपर उठने का सतत् प्रयत्न किया है—

मेरा जीन
देश की तरह
बौना हो चला है
जिसके पास आत्मनिर्भरता के नाम
रुंधा हुआ गला है
बजते हुए फेफड़े और
पतावे सी लटकी हुई जिह्वा है।

द्वितीय काव्य-संग्रह 'उपनगर में वापसी' कवि की एक लंबी कविता है। इसी कविता के शीर्षक के आधार पर कवि ने अपने काव्य संग्रह का नामकरण किया है। अपने देश को कवि उपनगर मानता है—

यों उपनगर है मेरा देश / भूगोल पर स्थित /

व्यक्ति समाज की सबसे छोटी इकाई है। व्यक्तियों का समूह समाज कहलाता है। वंशी अपने सामाजिक परिवेश से भली-भाँति परिचित हैं इसलिए इस परिवेश की चर्चा उन्होंने अपनी कविता में की है। अपने पड़ोस में रहने वाले एक परिवार का दुःख महसूस कर कहता है—

अमरु के परिवार में दो जवान बेटियाँ हैं और एक कमाऊ पुत्र है जो हमेशा दौरे पर रहता है। ममतामयी माँ वृद्ध और अशक्त होने के बावजूद प्रार्थना की डोर को थामे है—

माँ की आंखें जा रही हैं
छिन रहा है दुनिया का रूप रंग
अब उसे याद नहीं रहती
संध्या आरती दिया बाती

इन कविताओं में विचार का हथियार और तराशा गया है। मनुष्य की घुटन और पूंजीपतियों के आर्थिक शोषण को ही व्यक्त नहीं किया गया है,

अपितु शोषकों के चरित्र की चर्चा भी की गई है। उनके द्वारा दी गई मानसिक और शारीरिक यातनाओं से वह क्षुब्ध तो है पर हताश नहीं। कवि शोषितों के प्रति सहानुभूति रखता है पर शोषण की बेड़ियां तोड़ने को लालायित है। बिना कुछ कहे चुपचाप सहने की सीमा कवि को आश्चर्यचकित कर देती है.....

क्यों न इन सुरक्षित बेड़ियों को तोड़ने की
नई शुरुआत हो
सत्य की आंखों में देख
सीधे-सीधे बात हो
हम में कौन
इतनी जड़ता बो गया है?

युवा वर्ग का प्रतिनिधि मन्यु यानि अभिमन्यु मानसिक द्वंद्व के युद्ध का निरंतर सामना कर रहा है।

अविराम एक युद्ध चल रहा है
मन्यु बंट रहा है
मन्यु घिर रहा है
मन्यु मर रहा है
मन्यु जी रहा है
मन्यु मन रहा है
उदण्ड उच्छृंखल
मन्यु सीमाएं तोड़ रहा है.....

क्योंकि जिस विश्वास पर व्यक्ति जी रहा हो वही पिघल कर क्षीण तर होने लगे तो मानसिक द्वंद्व के साथ सीमाओं का टूटना स्वाभाविक है। देश के नेताओं पर व्यंग्य करते हुए कवि कहता है—ओढ़ी हुई खालों के नीचे / दृश्य-सत्यों की माला जपते / कितना नीचे उतर गया है देश ? /

और वह यह भी स्वीकार करता है ऐसे नेताओं को सत्ता से किनारा दिखा देना चाहिए—

नेता व्यस्त हैं

नेता अन्यायी हैं
 नेता अत्याचारी हैं
 नेताओं को हटाओ !

गिरिजा कुमार माथुर मानते हैं कि बलदेव वंशी की कविताएं नगरीय अनुभूतियों का तीसरा आयाम व्यक्त करती हैं। उनकी संवेदनाएं नगर जीवन के निचले और मध्य वर्ग का अनिवार्य अंग है ; उनमें परिवेश की कशमकश और पीड़ा की अभिव्यक्ति है।

स्वयं बलदेव वंशी भी स्वीकार करते हैं—

यह कुरुक्षेत्र
 नहीं !
 न पानीपत
 हर घर में छिड़ा युद्ध
 कविता में उतर आया है

‘अंधेरे के बावजूद’ कवि का तृतीय काव्य-संग्रह है जो आपात कालीन स्थिति के दौरान लिखा गया। ‘अंधेरे के बावजूद’ में भी मानव अस्तित्व रक्षा के लिए संघर्षरत है। इस शीर्षक का प्रतीक धीरे-धीरे संग्रह की कविताओं में खुलता है जो तत्कालीन परिस्थितियों का ज्वलंत दस्तावेज है। हालात की क्रूरता असहनीय है, हर बुरे पहलू को आंखों द्वारा देखने पर कवि अपनी आंखों को स्वयं फोड़ डालना चाहता है—

ये आंखें मैंने स्वयं फोड़ी हैं
 सब कुछ देखने-सहने वाली
 ये आंखें बदकार।

यद्यपि संग्रह की अधिकांश कविताएं नियतीवाद की ओर संकेत करती हैं तथापि इनमें कवि की आन्तरिक घुटन से मुक्ति की छटपटाहट स्पष्ट परिलक्षित होती है। परन्तु यह छटपटाहट सीमित नहीं गतिशील है—व्यक्ति से समष्टि की ओर जाती हुई।

एक विशेष कालखण्ड में लिखी होकर भी ये सीमित नहीं हैं। कवि इस बात से बखूबी परिचित है कि व्यवस्था का चेहरा चाहे बदल जाए, परन्तु

सत्ताधारियों का वास्तविक चरित्र वही रहता है। देश के नेता सच्चाई से भयभीत हैं, यथार्थ का सामना करने का साहस उनमें नहीं है—

वे सचमुच डरते हैं।

वे उस व्यक्ति के पास नहीं जाना चाहते

जो उन्हें निर्दोष लोगों के भीतर जलते हुए

देश का नक्शा दिखाए।

झुलसते प्रांतों

उजड़ते देहातों में ले जाए।

व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिशोध की ज्वाला में जल रहे और उचित अवसर की तलाश में भटक रहे लोगों को रास्ता दिखाते हुए इतिहास का अवलोकन करने को कहा है। कवि ने सोये हुए लोगों को जगाने की चेष्टा की और बताया कि वह स्वतंत्रता जिसे खून से सींच कर पाया है आज उसे तुच्छ स्वार्थों के लिए गलियों और बाजारों में लाया गया है। वह अतीत की चर्चा कर वर्तमान पर व्यंग्य करता हुआ कहता है—

चारों ओर उठे इन भवनों के घेरे में

इस बाग में (जलियांवाला)

वे लोग कौन थे ?

ये लोग कौन हैं ?

कौन है ये लोग ? कवि का यह प्रश्न मात्र प्रश्न नहीं है यह कटाक्ष है अवसरवादी नेताओं पर और सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों पर जो देशभक्ति की आड़ में आम आदमी का शोषण कर रहे हैं।

कवि जन शक्ति में विश्वास रखता है, परन्तु उसे अफसोस है कि जनता चुपचाप और व्यक्तिगत रूप से लड़ रही है। जब कोई यह कहता है कि सारी बातें उसकी छाती पर लिखी हुई है तो कवि का विश्वास होता है कि अवसर आने पर वह उसका बदला अवश्य लेगा—

व्यक्ति व्यक्ति के भीतर

नृशंस धमाकों की दस्तकें

स्वार्थों की व्यूह-रचना में रक्तिम हस्ताक्षर

युवाओं के वक्ष पर लिखे जा रहे हैं।

बलदेव वंशी की तलाश और संघर्षशीलता का अगला सोपान 'बच्चे की दुनिया' काव्य-संग्रह में मुखरित हुआ है। बच्चे के माध्यम से कवि ने उसकी निश्छल, निर्भय और निष्कपट दुनिया का चित्रण किया है। इन कविताओं में बड़ों की दुनिया कितनी बौनी लगती है। इस संदर्भ में बच्चे के जीवन के वे पक्ष प्रस्तुत किए हैं जो अब तक अधूरे रहे हैं। आज के संत्रास विसंगति और विडम्बना के युग में बच्चा असहाय एवं निपट अकेला पड़ गया है। नगरीय सभ्यता ने बच्चे के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। उसमें बच्चे की खीझ स्वाभाविक है—

अकेला बच्चा / किताबें पढ़ नहीं रहा / फाड़ रहा है / नहीं ! / बच्चा
किताबों पर / बड़ों की खीझ उतार रहा है ! /

बलदेव वंशी ने 'बच्चे की दुनिया' के माध्यम से एक समूची, स्वायत्त एवं पूर्ण दुनिया प्रस्तुत की है—जो युयुत्सा, संघर्ष, जोखिम, उत्साह, चुनौती एवं निर्माण की दुनिया है।

सर्वाधिक संकट ग्रस्त होते हुए भी यह दुनिया 'जीना' संभव ही नहीं बनाती, जीने की कला भी सिखाती है। कवि का विचार है कि अगर बच्चों को भावी शोषण एवं अन्याय से बचाना है तो उनके आज को सुरक्षित रखने के प्रयत्न किए जाने चाहिए—

अभी फिलहाल 'इतना करो'

यदि बच्चे को बचा नहीं सकते कल को

तो बच्चे को

इन खबरों से बचाओ।

वंशी स्वीकारते हैं कि बच्चे की यह दुनिया कष्ट-क्लेश, असमानता-अभाव, इच्छा-आकांक्षा, भय-विश्वास, से भरी अत्यन्त संवेदनशील तथा इस कारण बेशकीमती-जानदार है।

'बच्चे की दुनिया' कवि की तलाश की चरम सीमा प्रतीत होती है। वह तलाश जो 'दर्शक दीर्घा' से प्रारम्भ हुई परन्तु हर परत 'उपनगर में वापसी' में असलियत का अन्वेषण करती हुई अंधेरे के बावजूद संघर्ष का दामन पकड़े 'बच्चे की दुनिया' में अन्तर्मुखी हो गई।

बलदेव वंशी की कृति 'आत्मदान' (खण्ड काव्य) अहल्या संबंधी पुराकथा को युगीन संदर्भों से सम्पृक्त करके उसे एक अछूता संवेदनात्मक धरातल देती है। अहल्या शायद पहली भारतीय नारी है, जिसने पुरुष सत्तात्मक मूल्यों एवं शोषण की एक चिरस्थायी व्यवस्था के विरुद्ध चुनौती के विराट संकल्प का प्रतिनिधित्व किया। अपने वृहत् अर्थ स्तर पर अहल्या की समस्या देश और काल का अतिक्रमण करती हुई वर्तमान विश्व में व्याप्त एवं सक्रिय नारी-मुक्ति-आन्दोलन से भी जुड़ जाती है। 'आत्मदान' में पुरुष सत्तात्मक समाज में नारी के प्रति दमन एवं दंभपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध कम विक्षोभ व्यक्त नहीं हुआ। ऐसे समाज में पुरुषों द्वारा निर्धारित मूल्य सत्ता की एक पक्षीयता के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

अहल्या के जीवन में व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों स्तरों पर स्थापित मूल्यों को लेकर द्वंद्व उभरता है वह उन्हें चुनौती देती है। संघर्ष में घिरती है। अस्तित्व की अदम्यता ही उसे बाध्य किये है। 'आत्मदान' में कवि ने अहल्या के माध्यम से आधुनिक विश्व में नारी-मुक्ति आंदोलनों की युगीन आवाजों और ऐतिहासिक नृशंसताओं को उजागर किया है।

संदर्भ

1. वंशी, बलदेव, दर्शक दीर्घा से, मैसूर: प्रसाद पुस्तक मंदिर, 1970
2. वंशी, बलदेव, उपनगर में वापसी, दिल्ली: साहित्य भारती, 1974
3. वंशी, बलदेव, अंधेरे के बावजूद, दिल्ली: साहित्य भारती, 1978
4. वंशी, बलदेव, बच्चे की दुनिया, दिल्ली: इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, 1981
5. वंशी, बलदेव, आत्मदान, नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1982

अध्यक्ष - हिन्दी-विभाग

शहजादा नंद कॉलेज

मकबूल रोड, अमृतसर-143001

परम्परा एवं उत्तर आधुनिकता का द्वन्द्व दलित कविता

डॉ. शिव प्रसाद शुक्ल

बाल्मीकि से लेकर अब तक की काव्य यात्रा को विस्तृत आयाम इंसानियत के बिन्दुओं पर दलित कविता ने दिया। कुछ आलोचक कह सकते हैं कि कविता तो कविता परन्तु दलित विशेषण लगाने की आवश्यकता नहीं है। हां, बाल्मीकि से लेकर रीतिकाल तक की कविता काव्यशास्त्रीय अंदाज पर दरबारों एवं मठों-मंदिरों में अनुगूंजी। दरबार, मठ एवं मंदिरों की आबोहवा और दलितों की स्थिति काफी विचारणीय थी और है। जबकि 1843 ई. या 1850 ई. या 1857 ई. के बाद सभी साहित्यिक विधाओं में परिवर्तन जवजागरण एवं दलित आंदोलन से आया। अन्तर्वस्तु एवं रूप संरचना मानवीय धरातल पर लेखकीय स्तर पर आये। हालांकि व्यावहारिक स्वरूपों में काफी देर लगेगी। हां, यह भी कहा जा सकता है कि गांधी का प्रभाव कुछ भारतीय साहित्य पर पड़ा तो दलित आंदोलन के प्रेरणा पुरुष अम्बेदकर ही हैं। जो स्वाभिमान, आत्मगौरव एवं अस्मिता अम्बेदकर के कारण दलितों में जागी उसका व्यावहारिक स्वरूप दलित कविता ही है। यानी दलित साहित्य ने भारतीय साहित्य के लेखन एवं आलोचना में नयी दृष्टि का इजहार किया है। यहां हम समकालीन दलित कवि ओम प्रकाश बाल्मीकि के काव्य संग्रह 'सदियों का संताप' (1989), 'बस्स बहुत हो चुका'

(1997) तथा 'अब और नहीं' (2009) पर केन्द्रित करते हुए दलित कविता की अक्षुण्णता स्पष्ट करना चाहेंगे तथा भारतीय साहित्य का अतीत एवं वर्तमान आलोचकीय दृष्टि से देखना चाहेंगे।

हालांकि दलित कविता की शुरुआत निर्गुण भक्तिशाखा के ज्ञानाश्रयी शाखा या संतकाव्य परम्परा के कवियों से मानी जानी चाहिए। इसीलिए डॉ. रामविलास शर्मा भक्तिकाव्य को लोक जागरण काव्य कहते हैं। वैसे ही भक्ति आंदोलन ने ही भारतीय भाषाओं को अलग पहचान देकर जन सामान्य के लिए काव्य क्षेत्र का द्वार खोला। हालांकि बाबा साहब अम्बेदकर की टिप्पणी ध्यातव्य है : "जहां तक संतों का प्रश्न है, तो मानना पड़ेगा कि विद्वानों की तुलना में संतों के उपदेश कितने ही अग और उच्च हों, वे सोचनीय रूप से निष्प्रभावी रहे हैं। वे निष्प्रभावी दो कारणों से रहे हैं। पहला किसी संत ने जाति व्यवस्था पर कभी भी हमला नहीं किया। इसके विपरीत वे जात-पात की व्यवस्था के पक्के विश्वासी रहे हैं। उनमें से अधिकतर उसी जाति के होकर जिये और मरे, उसी जाति में जिसके वे थे। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी कि सारे मानव समान हैं परन्तु यह शिक्षा दी कि ईश्वर की सृष्टि में सारे मानव समान हैं। दूसरा कारण यह था कि संतों की शिक्षा प्रभावहीन रही है क्योंकि लोगों को पढ़ाया गया कि संत जाति बंधन तोड़ सकते हैं, लेकिन आदमी नहीं तोड़ सकता। इसीलिए संत अनुसरण करने का उदाहरण नहीं बने।" (मुख्य धारा का यथार्थ और दलित साहित्य: ओम प्रकाश बाल्मीकि, पृष्ठ 34) सर्वप्रथम ध्यातव्य यह है कि अम्बेदकर संविधान निर्माता के साथ सर्वजन हिताय के समर्थक हैं। इसीलिए उनका संतकाव्य को लेकर किया गया मूल्यांकन काफी समीचीन है। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान गांधी जी के कारण बौद्ध धर्म स्वीकार नहीं किया परन्तु गांधी की मृत्यु एवं देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद बौद्ध धर्म स्वीकार किया। इसलिए दलित कविता का उत्स बौद्ध साहित्य से जोड़ा जा सकता है क्योंकि हजारी प्रसाद द्विवेदी महात्मा गौतम बुद्ध को सबसे बड़ा समन्वयकारी मानते हैं। यह बात अलग है कि पंडिताई या ब्राह्मणवादी मानसिकता के चलते तुलसीदास को भी समन्वयवादी कवि माना है। यानी दलित कविता बौद्धों से चलकर जैनों, मुसलमानों, संतों, सूफियों एवं अंग्रेजों से होती हुई हीरा उम की कविता 'अछूत की शिकायत' (1914 ई.) से होती हुई समकालीन दलित कविता

का दिशा निर्देश कर रही है। हम सब जानते हैं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बौद्धों एवं जैनों के साहित्य को साम्प्रदायिक साहित्य की मुहर लगा दी। इसीलिए दलित साहित्यकार एवं आलोचक भी अपने पुरणियों को याद करने में हिचकिचा रहे हैं। फिलहाल दलित कवियों ने नास्टेलिजियाई एवं प्रवर्तमान असमानता शोषण के खिलाफ कविता लिख रहे हैं। 'चांद' पत्रिका का अछूत विशेषांक नंद किशोर तिवारी के समपादकत्व में 1928 ई. में प्रकाशित हुआ। फिलहाल दलित साहित्य को पहली बार भारतीय परिप्रेक्ष्य में लाने का श्रेय मराठी साहित्य को है। इसके बाद सभी भारतीय भाषाओं में वैश्विक रंगभेद, अश्वेत या विस्थापन के कारण समकालीन दलित कविता का आकार ग्रहण कर रही है।

यों, देखा जाय तो मराठी साहित्य से उद्भूत दलित साहित्य सातवें-आठवें दशक में विद्रोह की स्फुलिंग लेकर ओम प्रकाश बाल्मीकि, सूरजपाल चौहान, श्यौराजसिंह बेचैन, अंजय नवरिया, जय प्रकाश कर्दम, डॉ. धर्मवीर, कंवल भारती एवं मोहनदास नैमिशराय ने अपनी-अपनी गहरी पहचान विविध विधाओं में लिखकर दर्ज करायी है। ओम प्रकाश बाल्मीकि ने रंगमंच के क्षेत्र में तकरीबन 80 नाटकों में अभिनय/निर्देशन भी किया है। उनकी कविता की रचना प्रक्रिया इतिहास, आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता की शव साधना करती है। उदाहरणार्थ-

“ओ, मेरे अज्ञात, अनाम पुरखो

तुम्हारे मूक शब्द

जल रहे हैं

दहकती राख की तरह

राख जो लगातार कांप रही है

रोष में भरी हुई।”

(मुट्ठी भर चावल)

दलित कविता को दलित भाषा पर विशेष ध्यान देना होगा क्योंकि आभिजात्य एवं तथाकथित मानक काव्यभाषा का प्रयोग शोषण की नयी उपनिवेशवादी मानसिकता का द्योतक है। हांलाकि भाषा से भी एक फर्क, फांसला एवं शोषण की बू आती है। 'ओ, मेरे अज्ञात, अनाम पुरखों, में हर

प्रकार के शोषण की टीस है तो आज दलितों एवं आदिवासियों के नाम आबंटित धनराशि को दलित अधिकारी ही खा रहा है। अम्बेदकर की धारणा थी कि दलितों को आरक्षण देने से वे वर्ग प्रतिनिधि के रूप में काम करेंगे और शोषक-शोषित की परम्परा खत्म होगी। यदि दलित भी साक्षर होते तो बौद्ध, जैन, मुसलमान एवं अंग्रेज का आगमन नहीं होता। ओम प्रकाश बाल्मीकि की आक्रोश पूर्ण दबंगई पूर्वक लिखी गई अछांदस कविताएं समग्र शोषण की विद्रुयता की आइना खड़ी करती हैं। लोकतांत्रिक प्रणाली की प्रवर्तमान दशा देखते बनती है। उदाहरणार्थ :

“पालों की अदला-बदली
संसद के गलियारों का
अधमरा लोकतंत्र भी
न अपना हो सका
न जगा सका
विश्वास ही !” (लेखा-जोखा)

लोकतांत्रिक असफलता के कारण आक्रोश, माओ, नक्सल एवं आतंक विकसित हो रहा है। यहां तक कि संस्कृतियों का इतिहास शोषण पर आधारित है। यह बात अलग है कि रामायण एवं महाभारत की कथा अपने-अपने ढंग से करके लोग भावात्मक शोषण दलितों एवं गरीबों का कर रहे हैं। जब कि ओम प्रकाश बाल्मीकि भावात्मक शोषण करने वालों को पहचानते हैं। इसलिए उन्होंने रामायण एवं महाभारत के उपेक्षित पात्र केवट, शबरी, शम्बूक, कर्ण आदि की विडम्बनाओं से भी भली प्रकार परिचित हैं। उदाहरणार्थ :

“पूछेंगे सवाल रुंधे हुए शब्द-
क्यों नहीं आयी बाढ़ गंगा में !
क्यों नहीं उठकर बैठ गया अधजला मुर्दा
काशी के मणिकर्णिका घाट पर ?
क्यों नहीं उमड़ा चक्रवात
महासागर की विस्तृत लहरों पर !

जब पुष्प वर्षा की थी देवताओं ने
तपस्वी की हत्या पर ।” (रुंधे हुए शब्द)

कवि ने सभी धार्मिक, सामाजिक एवं लोकमान्यताओं को वैज्ञानिक पद्धति पर नकारते हुए ‘तपस्वी की हत्या पर’ पंक्ति द्वारा शम्बूक को टांकते हुए त्रेतायुगीन एवं समकालीन दलितों के प्रति विश्वग्राम के लोगों के खैय्या को एक साथ रेखांकित किया है। आज के भी तथाकथित साधु पुरुष धार्मिक पंथ एवं सम्प्रदाय स्थापित करके दलितों, आदिवासियों एवं नारियों का ही शोषण कर रहे हैं। इसीलिए लोकतंत्र के पन्द्रह नेता धार्मिक एवं साम्प्रदायिक दंगे करवाकर राज्य करते हैं। बाबरी मस्जिद, गोधराकांड या अन्य दंगों की टिपिकल स्थितियों को कवि यों टांकता है। उदाहरणार्थ—

“गर्म सलाखों से बिंधे
धुआं-धुआं जलते शहर में बीचों बीच खड़ा आदमी
संविधान की धाराओं-सा / संदर्भहीन हो गया है
लगता है - अंधेरे और उजाले की
सन्धि-रेखा / वृत्ताकार बनकर
आदिम गुफा में परिवर्तित हो गयी है।”

(दंगों के बाद)

साम्प्रदायिक या अन्य दंगों में धर्म, जाति, भाषा एवं प्रदेश का लेबल लगाकर निम्न वर्गों को ही भड़काया जाता है। कवि समग्र वस्तु स्थिति को कविता में ढालकर काव्यशास्त्र का नया मुहावरा गढ़ रहा है। ओम प्रकाश बाल्मीकि को भली प्रकार मालूम है कि कविता को दरबार, मठ, मंदिर एवं अड्डे से बाहर लाकर सर्वसुलभ बनाना अनिवार्य है। इन दलितों, आदिवासियों एवं अशिक्षितों की आस्थाओं के साथ लोगों ने नाना प्रकार के खेल खेले हैं, कहीं जाति के नाम तो कहीं ईश्वर के नाम तो कहीं प्रदेश के नाम तो कहीं धर्म के नाम, यह सिलसिला अभी भी जारी है। इसी आस्था के नाम समाकलीन कथाकार एवं प्रवचनकर्ता दलितों, आदिवासियों एवं निरक्षर लोगों का भावात्मक शोषण कर रहे हैं। ‘बसस बहुत हो चुका’ काव्य संग्रह का एक अंश द्रष्टव्य है:

“चूहड़े या डोम की आत्मा
 ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है
 मैं नहीं जानता
 शायद आप जानते हो।”

(शायद आप जानते हों)

यहां कवि भले ही ब्रह्म एवं ब्राह्मणवाद को नकारता हो परन्तु दलितों, आदिवासियों एवं मूखों के प्रवर्तमान शोषण के ढंग वैश्विक-उत्सव ‘कबीर पंथ’, ‘स्वामी नारायण’, ‘डेरा पंथ’ या ‘वनवासी योजना’ या राष्ट्रीय ग्रामीण गारंटी योजना आदि के नाम किया जा रहा है। यहां तक कि राजनीतिक पार्टियों की समग्र राजनीति दलितों, आदिवासियों एवं निम्न वर्गों पर आधारित है। आरक्षण के तहत दलित एवं आदिवासी उच्च पदों पर आये परन्तु जातिगत, वर्णगत एवं सम्प्रदायगत घरौंदों से ऊपर नहीं उठ पाये हैं। बल्कि उनमें भी ब्राह्मणवादी मानसिकता बराबर दिखायी दे रही है। उदाहरणार्थ—

“मैं जानता हूँ
 मेरा दर्द तुम्हारे लिए चींटी जैसा
 और तुम्हारा अपना दर्द पहाड़ जैसा
 इसीलिए
 मेरे और तुम्हारे बीच
 एक लम्बा फासला है
 जिसे लम्बाई से नहीं
 समय से नापा जायेगा।”

(जूता)

धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, नस्ल एवं रंगभेद भी अलग-अलग संदर्भों में उत्थान एवं पतन की भी सीढ़ियाँ हैं। यहां तक कि धर्म के नाम पर साम्राज्य स्थापित होने के साथ भाषा का भी विकास हुआ है और हो रहा है। यानी धर्म एवं भाषा की नाभि बाजार पर टिकी है। इसीलिए भारतीय लोग सत्ता के लोभ में युद्ध में घायल घोड़े की तरह धर्म एवं भाषा बदलने में देर नहीं लगाते हैं। कवि भले ही बौद्धिक स्तर की कविता लिखकर सवर्ण मानसिकता के काले कारनामों को उजागर कर रह हो परन्तु निजीकरण के

कारण सवर्ण मानसिकता के पूंजीपति लोगों की सक्रिय भागीदारी वैश्विक बाजार में है। ये लोग धर्म एवं भाषा के नाम भावात्मक शोषण का वैश्विक बाजार तैयार किया है। इक्कीसवीं शताब्दी में दलित के साथ सामान्य लोग भी ग्लोबल गणित को नहीं समझ पा रहे हैं। इसीलिए ग्लोबल भाषा, ग्लोबल धर्म एवं ग्लोबल संस्कृति के बैनर तले भारतीय आ गये हैं। हालांकि इससे सबसे ज़्यादा नुकसान दलितों एवं नारियों को ही है। दलित कवियों ने बिम्बों, प्रतीकों को व्यापक सांकेतिक संदर्भों में काव्य सौंदर्य के स्तर पर इस्तेमाल किया है। इसलिए जो आलोचक दलित कविता पर सपाट बयानी एवं आक्रोश का आरोप लगाते हैं, उन्हें दलित कविता के समस्त संदर्भ को गहराई से समझना होगा। ब्राह्मणवादी आलोचकों ने कबीर को अपनी नक्काशी एवं मुलम्मेवाली भाषा से आवृत्त कर रखा था या बौद्धिक मदारी की मकड़जाल से कबीर को बाहर निकालने का काम डॉ. धर्मवीर ने किया। ओम प्रकाश बाल्मीकि भी अम्बेदकर की विद्वत्ता से काफी प्रभावित हैं। इसीलिए संत पर उनके द्वारा की गयी टिप्पणी को व्यापकता देने के लिए 'अब और नहीं' (पृष्ठ 15) कविता लिखकर कबीर को प्रेरक पुरुष एवं संत माना है :

“मेरी रक्त शिराओं में
हर रोज घुल रही है दहशत
फिर भी
मैं बार-बार जोड़ता हूँ
बिखंडित शब्दों को
चिंदी-चिंदी उस चदरिया की तरह
जिसे ओढ़कर
कभी निकला था कबीर
बनारस की गलियों में।” (अब और नहीं)

इनकी कविता में श्रम एवं संघर्ष की काव्यभाषा के साथ शोषण की अनेक विद्रूपताओं को देखा जा सकता है। इनकी काव्यभाषा में समग्र विसंगति बिम्बित होती है। दलित कवि ओम प्रकाश बाल्मीकि की कविता में दलितों के प्रश्नों का समाधान नहीं है, बल्कि दलितों की समस्या को

मशाल की तरह दीप्त रखती है। दलितों में स्वाभिमान, आत्मगौरव एवं आत्मबल को कविता के माध्यम से जगाना है। कवि ने समग्र अब तक की बर्बरता को ऐतिहासिक एवं समकालीन परिप्रेक्ष्य में उभारा हैं उदाहरणार्थ—

“लहू में बसा हुआ
बर्बल संस्कृति का भय
बना हुआ है मकड़ी के जाले-सा
इर्द-गिर्द
महीन अदृश्य धागों से
हौसला टूट रहा है।”

(विपथित संघर्ष-यात्रा-एक)

ब्राह्मणवादी मानसिकता के आलोचक दलित कविता में जाति एवं वर्ण के विष को गहराई तक बो रहे हैं। इसीलिए कवि लिखता है कि “हौसला टूट रहा है” के माध्यम से समग्र दलितों के अन्तर्विरोधों को समझ रहे हैं। समग्र दलित कविता नये काव्यशास्त्र एवं मानदण्ड स्थापित करने में जुटी है तो ‘कविता के नये प्रतिमान’ से ब्राह्मणवादी आलोचक उनकी कविताओं का मूल्यांकन कर रहे हैं। कवि जानता है तथाकथित अभिजात्य संस्कृति एवं साहित्य के लोगों की मदारी भाषा को। इसीलिए इनकी काव्यभाषा के शब्द इनकी शैली के आधार पर बदल गये हैं। ये लोग धीरे-धीरे ‘लहू में बसा हुआ / बर्बर संस्कृति का भय’ से उबरने की कोशिश कर रहे हैं। वैसे देखा जाय तो भारतीय काव्यशास्त्र के सृजनात्मक पहलूओं के कारण असहमति के बावजूद हर आचार्य ने अपने-अपने सम्प्रदाय को काव्य की आत्मा सिद्ध किया है। यह बात अलग है कि तत्पुगीत आलोचकों ने उन काव्यशास्त्रीय टूल्स के माध्यम से दरबारों, मठों एवं मंदिरों में लिखे गये साहित्य का मूल्यांकन किया। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए दरबारों, मठों एवं मंदिरों की ‘काव्यशास्त्र विनोदेन’ परम्परा को। यह बात अलग है कि दलित कविता में विद्रोह, आक्रोश, श्रम, संघर्ष एवं स्वाभिमान का भाव दिखायी दे रहा है। ओम प्रकाश बाल्मीकि की कविताओं में उतावलापन साफ झलकता है। दलित-दलित के बीच वर्ण एवं जाति के अन्तर्विरोध से भी कवि परिचित है। इसीलिए कवि आशंकाशील होकर भी कविता लिख रहा है। उदाहरणार्थ—

“मेरी यह कोशिश
 धोखा देगी मुझे
 अंधेरे में खो जायेंगी
 आने वाली पीढ़ियां
 यह सब जानते हुए भी
 मैंने स्थगित कर दी है
 अपनी संघर्ष-यात्रा
 भय ने घेर लिया है मुझे
 चारों ओर से !”

(विपथित संघर्ष-यात्रा-दो)

कवि सपाट बयानी के साथ बिम्ब एवं प्रतीक भी प्रयोग कर रहा है परन्तु दलित कविता को अवरुद्ध करने वाले लोगों की नब्ज भी भली प्रकार पकड़ रहा है। भले ही कवि संघर्ष यात्रा स्थगित करने की बात लिख रहा है, लेकिन कछुए की तरह दलित साहित्य एवं कविता उत्तरोत्तर विकास कर रही है। भारतीय काव्यशास्त्र के काले कारनामे को दलित साहित्यकारों ने गहराई से भांप लिया है। इसीलिए दलित साहित्यकार ओम प्रकाश बाल्मीकि साहित्य की विविध विधाओं (आत्मकथा-‘जूठन’, कहानी संग्रह ‘घुसपैठिए’, ‘सलाम’ तथा आलोचना ‘मुख्यधारा का यथार्थ और दलित साहित्य’ में लिखना शुरू कर दिया है। कवि की कविता के स्थूल शब्द भले ही विभीषिका को व्यक्त करते हों परन्तु कवि का समग्र लेखन बहुआयामी होने के कारण दलित कविता को ठोस काव्य सौंदर्य धैर्य, श्रम, पसीने, संघर्ष एवं आपाधापियों से मिल रहा है। उदाहरणार्थ—

“भविष्य का अंधेरा
 ठहाके मारकर हंसने की कोशिश में
 विद्रूप हो उठा है
 कांटेदार बाड़
 जिसे पार करने कई पीढ़ियां
 जो जीना चाहती हैं

अपनी शर्तों पर
 बिना डरे
 सांप की केंचुल-सा हीनताबोध
 उतार फेंका है
 दीवार के उस पार
 जहां सड़ रहा है
 सदियों से जमा कूड़ा"

(दीवार के उस पार)

दलित कवि ओम प्रकाश बाल्मीकि भय एवं हौसले टूटने की बात भी कर रहे हैं और दूसरी तरफ दबंगई पूर्वक आत्म विश्वास के साथ 'उतार फेंका है / दीवार के उस पार / जहां सड़ रहा है / सदियों से जमा कूड़ा' भी लिख रहे हैं। विश्वग्राम में दलितों के शोषण के ढंग बदल गये हैं। कवि ऐतिहासिक आलोचनात्मक कविता विवेक एवं सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि के साथ लिख रहा है। कवि की तैयारी हर प्रकार के मोर्चों पर लेखकीय तौर पर मुंह तोड़ जवाब देने की है। संभव है इसमें घर, परिवार एवं समाज के लोग सहयोग न देते हों फिर भी कवि का आत्मविश्वास बुलंदियों पर है। ब्राह्मणवादी मानसिकता मात्र ब्राह्मणों में ही नहीं किसी भी जाति एवं धर्म के कवियों एवं लेखकों में भी देखी जा सकती है। ओम प्रकाश बाल्मीकि की कविता में आम आदमी की जद्दोज्जहद आपाधापियों के साथ बौद्धिक तटस्थता 'टिपिकल' काव्य सौंदर्य से ओत-प्रोत है। इस दृष्टिकोण से देखें तो दलित कविता राजदरबारों एवं मठों-मंदिरों की कविताई से अलग हो जाती है। भले ही रीति या परम्परा को मुर्दे की तरह ढोया जाय परन्तु इससे पाठकों/सहृदयों में एक विशेष प्रकार का असमंजस दिखायी देता है। कवि समग्र अड़चनों की परवाह किये बिना दलित कविता को वाचाल, प्रौढ़, सशक्त, दबंग एवं विश्वग्राम के मायाजाल से परहेज रखने की पहल कर रहा है। दास, सामंती, पूंजीवादी प्रथा लोकतंत्र के नाम वैश्वीकरण, निजीकरण, उदारीकरण एवं विश्वग्राम के शगूफे से दलितों एवं नारियों की नव्यतम् शोषण प्रक्रिया है। जिस तरह से भाषायी नक्काशी भारतीय काव्यशास्त्र के उत्थान-पतन में सहायक है उसी तरह से दलितों एवं नारियों के नाम आर्बटित धनराशि

विश्वग्राम के मकड़ जाल में गायब होती जा रही है। कवि अतीत के अनुभव को कविता में ढालता है तब तक वर्तमान के कटु अनुभव नयी संभावनाओं के साथ नयी काव्यानुभूति के विषय बनते हैं। इसीलिए इनके तीनों काव्य संग्रहों की कविताओं में गुणात्मक अंतर स्पष्ट झलकता है। इनकी काव्य भाषा धीरे-धीरे प्रौढ़ एवं प्रगल्भ बन रही है। लोकानुभव बिम्ब एवं प्रतीके के माध्यम से कविता में आकार ग्रहण कर रहे हैं। इसीलिए इनकी कविता परम्परा एवं उत्तर आधुनिकता के मकड़ जाल को भेदती हुई आम फहम काव्यभाषा के माध्यम से जन सामान्य तक पहुंच रही है। यानी कविता प्रवर्तमान धुंधलके के घटाटोप को दूर करने का अच्छा हथियार है। ओम प्रकाश बाल्मीकि का मंतव्य है कि “कविता हो या कहानी वह मेरे लिए आनंद या रसास्वाद की वस्तु नहीं है। समाज की गहन पीड़ा, उसकी मान्यताएं, चिन्ताएं, उसका संघर्ष, मुक्ति की चाह को शब्दबद्ध करना मेरे लिए जरूरी है ताकि बदलाव की सुगबुगाहट पैदा हो सके.....शब्द की आग और ऊर्जा को पहचानना जरूरी है। दलित साहित्य इस आग की आंच से जन्मा है। उसकी ऊर्जा समाज की तड़प है। लेखन के जरिये खुद को तलाशने की एक लम्बी संघर्ष-यात्रा शुरू की है जो अभी अधूरी है।” (मुख्य धारा का यथार्थ और दलित साहित्य : पृष्ठ 22-23) यानी कवि दलित साहित्य की दशा एवं दिशा से भली प्रकार परिचित है। ऐसे संभावनाशील कवि ओम प्रकाश बाल्मीकि से बेहतर काव्य संग्रहों की उम्मीद रखेंगे ही।

डॉ. शिवप्रसाद शुक्ल

डी-4, नीलकंठ बंगलोज, यमुना पार्क के पास,

वल्लभ विद्यानगर, आणंद, गुजरात-388120

02692-233629 / 09956831688 / 09695808833

उत्तराखण्ड की लोक कलाओं में अभिप्राय एवं प्रतीक

डॉ. वेणीराम अन्धवाल
पित्रेश कुमार भट्ट

यद्यपि समग्र भारतवर्ष एक ही सांस्कृतिक धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक इकाई के अन्तर्गत आता है परन्तु यहां कि भौगोलिक विभिन्नता ने स्थान स्थान पर क्षेत्रीय विशिष्टताओं को जन्म दिया है। इसी क्षेत्रीय असमानता ने उत्तराखण्ड को पर्वत राज हिमालय तथा अन्य छोटी-छोटी पर्वत श्रेणियों के ताड़वी रूद्र वेष में प्रस्तुत किया है। यह रहस्यमयी विशिष्टता आश्चर्य के साथ साथ अनायास भय और श्रद्धा दोनों पैदा करती है। इसी श्रद्धा और विश्वास ने इस क्षेत्र की लोक कला के रूप में देवी-देवताओं की आकृतियों के अंकन की परम्परा का सृजन किया है साथ ही इस भू-भाग का अधिकांश क्षेत्र ग्रामीण बस्तियों के रूप में स्थापित है तथा आजीविका के रूप में कृषि और पशुपालन स्वाभाविक रूप में प्रचलन में है। अतः यह पशु पक्षी, लता-बेल और पेड़ पौधों को भी अंकित किया गया है। इस अंचल की लोक कला में अभिप्राय की दृष्टि से अधिकांशतः लोक चित्रण लोक जीवन से सम्बन्धित व लोक अस्था को लेकर चित्रित किये गये हैं। जनपद से प्राप्त लोक कला में अभिव्यक्ति तथा अभिप्राय के रूप में ज्यामितीय, वानस्पतिक, पशु पक्षी व अन्य को सम्मिलित किया जा सकता है।

उत्तराखण्ड से प्राप्त लोक कलाओं में अलंकरण के उद्देश्य को लेकर ज्यामितीय आलेखनों का अंकन किया गया है। मुख्य रूप से पर्णावली के घुमाव वाले कलात्मक रूपों का प्रयोग किया गया है। पुष्प पाटलों को जोड़कर भी नाना इच्छित रूपों में परितवर्तन कर दिया है। एक ही प्रतिमान को उलटा कर दूसरे दिशा में जोड़ काफी रोचक आलेखन बनाये गये हैं। खिड़कियों के पटों पर एक प्रतिमान को बार बार दोहराकर आकर्षक डिजायनें बनायी गई हैं। इन्हीं से जाली का भी निर्माण किया गया है। दरवाजों और खिड़कियों के चौखटों पर कभी-कभी एक दर्जनों से भी अधिक आलेखनों के समानन्तर पट्टियां देखने को मिलती हैं। हर पट्टी का आलेखन भिन्न होता है। इनमें कुंडलियां, लहरिया वेल, चौपतिया, तिपतिया, तिकोने गुच्छे, चारखानी, आड़ी तिरछी और पाटल दल वाले आलेखनों की प्रधानता रहती है। छत के नीचे कलात्मक दोहरे टोडों की भरमार है। टोडों के नीचे आरपार काष्ठ छजलियों की पट्टियां दौड़ती हैं।

स्तम्भयुक्त महाराबदार तिवारियां अलंकृत पल्लों के साथ बजी हैं। तिवारियों के नीचे भूतल के चौड़े प्रवेश द्वारों की धरनियां, अष्टदल, चतुर्दल पुष्पों, कलिकाओं और स्वास्तिकार वलयों के प्रतिमानों से सुशोभित हैं। प्रवेश द्वार के अर्ध वृत्ताकार व चौकोर शीर्ष पट्टों पर उकेरे गये हैं। शीर्ष पट्टियों के मध्य में दर्पण हेतु वृत्ताकार पदूमक है और शीर्ष चौखट स्तम्भ में एक फल्लिका तथा इसके पीछे तीसराव महाराव उकेरा गया है। तिवारियों तथा छज्जों पर मंगलकलश सरीखें स्तम्भ, स्वास्तिक, वर्ण पादप प्रतिमान, गुलदस्ता, लता बल्लारी और बलितों से भरे पूरे मिलते हैं। दिवाल की विरसता को समाप्त करने के उद्देश्य से बनायी गयी नकली खिड़कियों के चौखटों और पल्लों पर भी ज्यामितीय अलंकरण बनाये गये हैं। जिनमें कहीं बन्दूक युक्त घुड़सवार तथा कहीं सर्पिलबलित तथा पुष्प वृक्षों को आकार दिया गया है। शीर्ष तथा चौखटों पर एस (S) आकार के मरगोलों की कतारें उकेरी गई हैं। गोठ के प्रवेश द्वारों की धरणी पर सर्पिल लता बकलरियों और कुंडलियों का अंकन किया गया है। तिवारियों के खम्भों पर शीर्ष की ओर पुष्प पंखुड़ियों के भीतरी भाग पर पत्तियां उकेरी गई हैं जो बेल के आकार की बनायी गयी खम्भों को बेलनाकार रूप दिया गया है। खम्भों के शहतीर से निचले भाग को कमल दल रूप से अंकन किया गया है, जो देखने में खम्भे

के शेष ऊपरी हिस्से का आधार प्रतीत होता है। पद तल के हिस्से को अत्यन्त सूक्ष्म ज्यामितीय अंकन के माध्यम से सुन्दर वेल व लता से उकेरा गया है। पद तल से लगे भाग पर प्रश्नवाचक (?) चिह्नों के आकार का अंकन किया है, जिसके ऊपरी भाग को वृत्ताकार रूप दिया गया है। खम्बों को अंकन की दृष्टि से आठ (8) भागों में विभक्त किया गया है। दोनों तरफ ऊपरी हिस्सों पर 90° के कोण से लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़ों को जोड़कर जाली का आकार दिया गया है, जो बढ़ते क्रम में दो खम्बों के मध्य शहतीर के आधे हिस्से से जुड़ी है, जिससे खोली का रूप बनता है।

भवनों के अतिरिक्त मंदिरों के प्रवेश द्वारों तथा मूर्तियों पर भी ज्यामितीय अंकन किया गया है। मंदिरों के काष्ठ के प्रतिमानों से भीतरी दीवारों पर विभिन्न आलेखनों से अलंकृत की गई है। मंदिरों के कक्ष धरातल पर भी, आकृतियां अनुरेखित तथा उत्कीरित है। इनमें विभिन्न प्रकार की उर्ध्वधर, तिर्यक, घुमावदार और कोणीय रेखायें तथा इन रेखाओं से बने रूपाकार यथा वर्ग, आयत, त्रिभुज, समचतुर्भुज, पंच, षष्ठभुज तथा अष्टभुज और वृत्त, बिन्दु ज्यामितीय वर्ग अभिप्राय से अंकित किये गये हैं। मंदिरों के मुख्य दरवाजे की अर्धवृत्ताकार शीर्ष पट्टी पर एक मेहराब के नीचे पत्रावली आलेखन से परिपूर्ण है। पत्रावली इन्द्रजाल के मध्य से बिंदिया की तरह शंख उकेरा गया है, काष्ठ के अतिरिक्त पत्थरों पर भी नक्काशी की गई जो कहीं समान्तर रेखाओं के रूप में तथा कहीं सर्पिल आकार में अंकित है। मंदिरों की ढालदार छतों के नीचे सम्मुख भाग में आलंकारिक आलेखनों से सज्जित आयताकार पट्टियां हैं। पट्टियों के निचले छोरों पर लकड़ी की झालरें हैं। अलंकृत पट्टियों के बीच में तीन तीन झालरों के गुच्छे लटके हुए हैं। देवकक्ष के चारों ओर जो बरामदा सा बना है, इनके बीच में वर्गाकार खाचों से बना आलेखन है, उल्टी छतों के चारों ओर परिश्रमपूर्वक जो चूड़ान्त कारूकारिता हुई है, वह काष्ठपट पर अंकित है। मंदिरों के मंडपों के मध्य भागों में महीन चित्रित आलेखन हैं। पटालों के नीचे बायें और दायें तरफ आयताकार पट्टियों के आलेखन हैं। अलंकृत पट पट्टिकायें और वलित भारी कलात्मक स्तम्भों पर टिके हैं। मंदिरों की छतों पर चारों ओर झालरें बनायी गयी हैं। दीवारों पर बाहरी और सुन्दर ज्यामितीय आलेखन बनाये गये हैं। खम्बों पर वेल, पत्र, पुष्प तथा समान्तर रेखाएं और सर्पिल आकार में अंकित

है। मंदिर द्वार के खम्बों पर कहीं समान्तर रेखाओं से कोष्ठकों को बनाया गया है, जिसके अन्दर विभिन्न आलेखनों का अंकन किया गया है तो कहीं तिरछी रेखाओं से आलेखन बनाये गये हैं। मुख्य द्वार की चौखटों पर छोटी छोटी समान्तर पड़ी रेखाओं से खड़ी समान्तर रेखाओं का अंकन किया गया है, इन छोटी छोटी पड़ी रेखाओं के अन्दर बाहर छोटी छोटी खड़ी रेखाओं से बार्डर का निर्माण किया गया है। कलात्मक दृष्टि से चौखटों को 6 भागों में विभक्त किया गया है, चौखटों पर मध्य भाग में अलंकरण से पूर्व आड़ी-तिरछी रेखाओं से जाली निर्माण किया गया है, इसी प्रकार के आलेखनों की आवृत्ति शीर्ष चौखट पर भी की गई है। कहीं चौखट पर एस आकार की खड़ी लकीरों द्वारा आलेखन अंकित किये गये हैं तथा इसी प्रकार से सर्पिल आकार से दरवाजों पर भी चित्र अंकित किये गये हैं, दरवाजों पर एक और सांप के जोड़े अंकित है तथा दूसरी ओर मूर्तियां निर्मित की गई हैं, दरवाजों के मध्य तथा बाहरी किनारों पर त्रिभुजाकार रूप से काटकर खड़ी समान्तर रेखाओं को अंकित किया गया है। शीर्ष पट्ट के मध्य भाग में छः भुजाधारी मूर्ती तथा अगल-बगल वृत्तकार रूप से काटकर खड़ी समान्तर रेखाओं को अंकित किया गया है। शीर्ष पट्ट के मध्य भाग में छः भुजाधारी मूर्ती तथा अगल-बगल वृत्तकार रूप में देव आकृति उकेरी गई है।

मंदिरों में पत्थरों को ज्यामितीय रूप से काटकर भी अलंकरण हेतु प्रयुक्त किया गया है। विभिन्न देवताओं तथा नन्दी आदि के लिए आधार रूप में पत्थरों को काटकर बनायी गयी है। घुमावदार धारियों से मूर्ति की धोती के आकार को उकारा गया है तो वृत्ताकार रेखा से कमरबन्द का अंकन देखने को मिलता है। कमरबन्द के दोनों सिरों की गांठ के बाद शेष बचे कपड़े को खड़ी की धारियों के द्वारा उभार दिया गया है। आधार पद तल में घुमावदार आवृत्ति से पुष्प स्वरूप प्रदान किया गया है तथा मुकुट का रूप वृत्ताकार रेखाओं और बिन्दुओं को आवृत्ति देकर दर्शाया गया है। गले में माला को भी बिन्दुओं की आकृति देकर दर्शाया गया है। मूर्तियों के मुख्य मंडल के प्रकाश पुंज को तिरछी रेखाओं द्वारा अंकित किया गया है। मूर्तियों के बाहर रेखांकन द्वारा आयताकार कोष्ठ का निर्माण किया गया है। कहीं कहीं पत्थरों के द्वारा भी छोटे छोटे आकार के स्तम्भ के आकार मंदिरों का निर्माण किया गया है। जिसका ऊपरी हिस्सा कलात्मक रूप से आड़ी तिरछी

रेखाओं द्वारा चित्रित किया गया है।²

उत्तराखण्ड से प्राप्त लोक कला में आभूषणों पर भी ज्यामितीय अंकन प्रमुख रूप से किया गया है। आभूषणों पर बाह्य रेखायें बजाकर उसके अन्दर कलाकृति की गई है। कलाकृति को ज्यामितीय स्वरूप में, परस्पर काटती रेखाओं को घनी रचना सीधी खड़ी रेखाओं के द्वारा, पड़ी रेखाओं द्वारा, सरल रेखाओं द्वारा, गोलाकार वृत्त आयताकार वर्ग, चतुर्भुज, बेलनाकार, अष्टभुज आदि द्वारा आलेखन बनाये गये हैं। यह क्रम बार बार दोहराने से सुन्दरतम कलाकृति का स्वरूप निखर आता है। गले में पहने जाने वाले आभूषणों को सर्पिल आकार से इस प्रकार गूँथा गया है जिसमें जंजीर का आकार बन गया। धातु के बारीक तारों को डमरू का आकार देकर एक एक कड़ी जोड़कर जंजीर बनायी गयी है। इसी आवृत्ति में चार चार जंजीरों को आपस में जोड़कर पद का स्वरूप प्रदान किया गया है। उत्तराखण्ड में अधिकांश आभूषण सोने एवं चांदी से निर्मित किए जाते हैं। अतः इस प्रकार की गयी कलाकृति अत्यन्त सूक्ष्म रूप से की गयी है। बूलाक पर की गयी कलाकृति अत्यन्त सूक्ष्म रूप से की गयी है। बूलाक पर की गयी कलाकृति ज्यामितीय स्वरूप का सुन्दरतम उदाहरण है। इसकी डण्टल को अंग्रेजी के "यू" आकार में घुमाया गया है तथा अग्र भाग "वी" आकार में बनाया गया है। मध्य भाग को भी यू आकार दिया गया है, जिसके बाह्य भाग को छोटे छोटे त्रिभुजाकार में काटकर आरी का स्वरूप दिया गया है। भीतर के सम्मुख भाग को छोटी रेखाओं को आपसे में काटकर वर्गाकार कलाकृति का निर्माण किया गया है। निचले हिस्से को अंग्रेजी के टी अक्षर की भांति बिन्दुओं से उकेरा गया है। नथ को वृत्ताकार रूप से निर्मित किया गया है, जिसे कला की दृष्टि से 16 भागों में विभक्त किया गया है। नथ का भार ऊपर की ओर रहे इस उद्देश्य से नथ को बालों से जोड़ने के लिए बारीक जंजीर का जोड़ लगाया जाता है, जो सर्पिल बलित की भांति आगे बढ़ाई गई है। धागुलों तथा कंठों पर भी आड़ी-तिरछी रेखाओं तथा वृत्ताकार रेखाओं के माध्यम से आलेखन अंकित है धागुलों के अग्रभाग पर जहां दोनों सिरे जुड़ते हैं, वृत्तकार बिन्दुओं से उभारा गया है तथा मध्य भाग को वृत्ताकार उभार के रूप में अंकित किया गया है। तिमण्या के निचले हिस्से पर बेलनाकार न्यून लम्बाई युक्त दानों पर रेखाओं के द्वारा अंकन किया गया है। मंगलसूत्र के अग्र भाग

को मध्य में आयताकार रूप प्रदान किया गया है, जिसके बाहरी किनारों को बेलनाकार रूप से उकेरा गया है। कुण्डल पर भी वृत्ताकार रूप से कलाकृति की गयी है तथा जौ माला तिमण्या के समान लट्ठू के आकार के दानों को रेखांकित किया गया है।³

उत्तराखण्ड के वर्तनों पर भी ज्यामितीय रेखांकन किया गया है, जो विशेष महत्त्व के उद्देश्य से अंकित की गई है। वर्तनों में मुख्य रूप से कांसे की थाली, गागर, पाथा, सेर, रोटाना आदि पर इस प्रकार के आलेखन देखने को मिलते हैं। थाली पर मध्य भाग में वृत्ताकार रेखाओं के मध्य खड़ी रेखाओं के माध्यम से आलेखन तैयार किया गया है, तथा मध्य भाग में एक वृत्त के बाद दूसरे वृत्त के द्वारा तथा दोनों वृत्तों के मध्य में बिन्दुओं के द्वारा सुन्दर चित्रण किया गया है, बाहर के वृत्त को पुनः केन्द्र में दोहराया गया है। गागर पर भी वृत्ताकार रूप को रेखांकन किया गया है, जिसे तीन बार दोहराया गया है, निचले हिस्से पर सीधी खड़ी रेखाओं के द्वारा आलेखन तैयार किया गया है। पाथा तथा सेर के मध्य भाग में दो वृत्ताकार रेखाओं का अंकन किया गया है, जो उसकी माप के उद्देश्य से अंकित है। रोटानो पर परस्पर काटती रेखाओं से त्रिभुज, षट्भुज तथा समचतुर्भुज उत्कीर्ण किये गये हैं, रोटानों के बाहरी हिस्सों पर वृत्ताकार रेखांकन किया गया है। तथा मध्य भाग चन्द्रकार वृत्त दृष्टव्य है। दूसरी ओर बेलनाकार रेखाओं का अंकन किया गया है।⁴

अल्पना में भी ज्यामितीय रेखांकन का बहुदा प्रयोग होता है। वास्तु चौकी, नवग्रह चौकी, सर्वतोभद्र, चतुषष्टीयोगनी, भद्र, सप्त धृतमत्रिका, मेखला, क्षेत्रपाल चौकी आदि में भी, आड़ी-तिरछी रेखाओं से आयत वर्ग, पंचभुज, त्रिभुज तथा वृत्तों व बेलनों का प्रयोग देखने को मिलता है।⁵ अल्पना के अतिरिक्त रिगाल से निर्मित वस्तुओं पर ज्यामितीय अंकन विशेष रूप से देखने को मिलता है रिगाल को वस्तु का स्वरूप प्रदान करने में परस्पर काटती रेखाओं वृत्तों का विशेष योगदान देखने को मिलता है, पद तल में परस्पर काटती तिरछी रेखायें एक दूसरे से सटकर आगे बढ़ती है, जबकि उसके पश्चात ये रेखायें निश्चित दूरी पर आगे बढ़ती है, जिससे बीच बीच में वृत्तों का आकार बनता जाता है। कुछ वस्तुओं में ये रेखायें अन्त तक आपस में सटकर आगे बढ़ती हैं।⁶

अवयव, अंश, अंग, भाग, चिन्ह आदि किसी पद या वाक्य का प्रथम

शब्द ही प्रतीक का शाब्दिक है। इसकी व्युत्पत्ति मूलक अर्थ में वह वस्तु जो अपनी मूल वस्तु में पहुंच सके अर्थात् वह मुख्य चिह्न जो मूल का परिचय हो। संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग प्रतिमा, चिह्न अथवा संकेत के लिए हुआ है। कोश के आधार पर प्रतीक अर्थ केवल मानस प्रत्यक्ष तथा कल्पना क्षेत्र में आने वाले विचारों, भावों और अनुभूतियों के दृश्य या श्रव्य संकेत या चिह्न प्रतीक कहे जाते हैं।⁷ दूसरे अर्थ में इस शब्द का व्यवहार किसी ऐसे दृश्य पदार्थ के लिए होता है जो हमारे मन में उस वस्तु के सादृश्य का प्रतिरूप प्रस्तुत करता है, जो दृश्य नहीं रहती किन्तु उसके आसंग में अनुभूत होती है। प्रतीक के साथ संबद्ध विचारों से यही अर्थ निकलता है।

प्रतीक रूप में शब्दों का प्रयोग कलात्मक और अकलात्मक लक्ष्य से हो सकता है। किन्तु उसका मुख्य अभिप्राय किसी विशिष्ट निर्दिष्ट वस्तु का चिह्न व प्रतीक होता है, शब्द के अर्थ या विवेचन करते समय हमें शब्द के मूलार्थक, ऐतिहासिक, निरपेक्ष महत्त्व को उसके अन्यापदेशिक अर्थ से जो उसके मूल संदर्भ में अंतर्निहित रहता है, पृथक् करना चाहिये, क्योंकि शब्द वस्तुओं के प्रतीक होते हैं और इसके साथ ही वे उनके भी प्रतीक हो सकते हैं, जो इन वस्तुओं में स्वयं अंतर्निहित रहते हैं। व्यवहार में प्रारम्भिक संदर्भ भी यथेष्ट होता है। किन्तु जब हम सिद्धान्त की बातें करते हैं तो दूसरा संदर्भ महत्त्वपूर्ण हो जाता है। भाषा अभिधात्मक ही नहीं होती वरन् वह व्यंजनात्मक भी होती है और यह व्यंजना सादृश्य के आधार पर होती है। किन्तु यह सादृश्य दृश्यात्मक ही नहीं होता। प्रतीकों का पारम्परिक अध्ययन सरल कार्य नहीं है। क्योंकि प्रतीक जिस आध्यात्मिक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उससे एक तो हम परिचित नहीं हैं और दूसरे उसमें हमारी अभिरूचि नहीं और इसके साथ ही प्रतीकात्मक शब्द या मुहावरों के अनेक अर्थ भी हो सकते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यादृच्छिक रूप में या ऐसे ही उनका कोई अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। प्रतीक दूसरी वस्तु का चिह्न होता है। वैज्ञानिक और साहित्यिक रूप से यह किसी वस्तु अथवा विचार का चिह्न होता है जिसका यह संकेत करता है। शब्द का प्रतीकात्मक प्रयोग किया जाता है। प्रतीक अनुभूति के स्वरूप का शाब्दिक संवादी कहा जा सकता है। इस रूप में यह अपनी शक्ति या जटिलता से लक्षित होता है। प्रतीक की जटिलता के प्रतीक प्रतिमान विकसित होता है, प्रतीक विषय को

व्याख्यातित करने के लिए, उसको स्वीकार्य बनाने के लिए, प्रत्यापन के लिए, दमित अथवा प्रच्छन्न अनुभूति को प्रोत्तेजित करने के लिए और अलंकरण अथवा प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं।

प्रतीकों के माध्यम से प्रेषित अर्थ को प्रत्येक प्रमाता ही अपनी शक्ति और सीमा के अनुसार ही ग्रहण कर सकता है। संभव है प्रमाता प्रतीक से वह अर्थ ग्रहण कर ले जो प्रतीक प्रमोक्ता को अभिप्रेत। इसलिये प्रतीक के सम्यक अर्थग्रहण के लिये प्रतीक सन्दर्भ को अनिवार्य बताया गया है।⁸ मनोवैज्ञानिकों ने प्रतीकों का अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रतीकों की यह विशेषता होती है वे अचेतन मन की दमित वासनाओं को हृदय अभिव्यक्त करते हैं और मूलतः शृंगारिक होते हैं यदि उनका सम्यक विश्लेषण किया जाय तो उनसे निश्चित और विचारों की प्रतीती प्रतीत होती है। उन प्रतीकों का निर्माण आकस्मिक रूप नहीं होता वरन उनका संबंध व्यक्ति की मनोभूमि और अन्य परिस्थितियों से रहता है। उनका कोई न कोई आसंग अवश्य रहता है वे कभी भी आसंग से विहित होकर प्रकट नहीं होते। प्रतीक से सन्दर्भ में युग⁹ की स्थापना सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने प्रतीक विवेचन में व्यक्ति की दमित इच्छाओं के साथ मानव जाति की सामूहिक चेतना को भी विशेष महत्त्व प्रदान किया है। उनके अनुसार मानव जाति की सामूहिक चेतना से जो प्रतीक उत्पन्न होते हैं, उन्हें आद्य बिंब कहा जाता है। ये आद्य बिंबों के सहारे अपने भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है तो वह बहुत बड़े समूह को प्रभावित कर लेता है। इसी कारण प्रतीकों को भिन्न-भिन्न व्यक्ति या समुदाय भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण करते हैं और इसी कारण मनोवैज्ञानिक प्रतीकों के गतिशील अर्थ पर अधिक बल देते हैं। इतना अवश्य है कि मनोविज्ञान में प्रतीकों को जिस रूप में ग्रहण किया जाता है, उसी रूप में कला के प्रतीक ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। अतः प्रत्येक स्थिति में कला प्रतीकों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या न्यायसंगत नहीं हो सकती।

इसी प्रकार धार्मिक प्रतीक होते हैं, जो कलात्मक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक अथवा अन्य प्रकार के प्रतीकों से भिन्न होते हैं। प्रतीक क्षेत्र बहुत ही व्यापक है, क्योंकि ये किसी न किसी रूप में सभी प्रकार की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति से संबद्ध होते हैं। मनुष्य अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के

लिये निरन्तर नवीन से नवीन प्रतीक विधान करता है। विज्ञान के प्रतीक और परिणाम दोनों दृष्टियों से सुनिश्चित होते हैं किन्तु कला के प्रतीक इस प्रकार निश्चयात्मक नहीं होते। सामान्य स्थिति यह है कि कला-प्रतीक प्रायः कल्पना जन्म होते हैं। यदि उनके निर्माण में बौद्धिकता का हाथ रहता है, तो वह बौद्धिकता रागानुशासित होती है। जबकि विज्ञान के प्रतीक पूर्णतः बौद्धिक होते हैं। कला के प्रतीकों के अर्थ विस्तार की संभावना अधिक रहती है। क्योंकि प्रमोक्ता का कुछ आशय हो सकता है किन्तु ग्रहण करते समय प्रतिपत्ता पूर्णतया भिन्न रूप में भी ग्रहण कर सकता है, अन्य सभी प्रकार के प्रतीकों की तुलना में कला प्रतीक अनुभूति तथा अनुभूति की विशिष्ट अवस्था के व्यंजक होते हैं। इन प्रतीकों का मूल आधार सादृश्य होता है और ये अनेक प्रकार के मनोभावों के चित्र उपस्थित कर सकते हैं। इन प्रतीकों का कोई एक निश्चित और रूढ़ अर्थ नहीं होता है वरन् इनका गत्यात्मक अर्थ होता है। प्रतिपत्ता जब तक प्रयोक्ता की अनुभूति की गहराई तक नहीं पहुंचता तब तक इन प्रतीकों के मूल आशय को नहीं पकड़ पाता। वस्तुतः प्रतीक पुनः निर्मित नहीं होते वरन् उन्हें चित्रण की संज्ञा दी जा सकती है।¹⁰ वास्तव में प्रत्येक कला में प्रतीक का अपना विशिष्ट महत्त्व है और यह बात निभ्रान्ति रूप से कही जा सकती है कि कलात्मक अभिव्यक्ति स्वयं अपने आप में प्रतीक है। श्रीमती लैंगर का यह कथन सर्वथा समीचीन है “कला भावना का प्रतीक है”, उत्तराखण्ड से प्राप्त लोक कलाओं पर स्पष्टतः दृष्टव्य है। समस्त कलाओं में प्रतीक का अपना महत्त्व है।

उत्तराखण्ड की कला में प्रत्येक कृति को प्रतीकात्मक रूप से प्रयुक्त किया गया है, इस अंचल से प्राप्त लोक कलाओं जैसे काष्ठ कला, अल्पना आदि पर प्रतीकों के रूप में स्वास्तिक ऊँ अक्षर, पुष्पदल, बेल, नवग्रह, सोगनियां, यक्ष, गंदर्भ किन्नर, हाथी, घोड़ा, सिंह, व्याघ्र, बैल ग्राम, देवी-देवता, राजपुरुष, सैनिक, गणेश, विष्णु, कलश, कुवेर, भृगु, चतुर्भुजाकार, वृत्त, सर्प, मछली, हनुमान, शंख, घंटा, मानवाकृतियां, हरियाली वृक्ष सरस्वती, षोडश मातका वसुधार, सूर्य, चन्द्रमा, नाग, मयूर, मूषक, पर्व नदि का अंकन यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

उत्तराखण्ड में प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान में नवग्रह पूजन की परम्परा है, इन ग्रहों को चौकी पर उनके कोणों तथा रंगों से, प्रतीकात्मक रूपों में पूजा

जाता है, जो निम्न तालिका से स्पष्ट किया गया है।

- | | | | |
|----|--------|---|-------------------------------------|
| 1. | ग्रह | - | सूर्य |
| | कोण | - | मध्य |
| | रंग | - | लाल |
| | आकार | - | गोलाकार |
| | प्रतीक | - | बुद्धि, तेज, धन-सम्पत्ति एवं सम्मान |
| 2. | ग्रह | - | चन्द्रमा |
| | कोण | - | अग्निकोण |
| | रंग | - | श्वेत |
| | आकार | - | अर्द्धचन्द्र |
| | प्रतीक | - | सुख, बुद्धि एवं निर्भयता |
| 3. | ग्रह | - | मंगल |
| | कोण | - | दक्षिण |
| | रंग | - | लाल |
| | आकार | - | त्रिकोण |
| | प्रतीक | - | सुख, सम्पत्ति, बल एवं स्वास्थ्य |
| 4. | ग्रह | - | बुध |
| | कोण | - | ईशान कोण |
| | रंग | - | हरा |
| | आकार | - | बाण |
| | प्रतीक | - | बल, बुद्धि, आयु, अन्न, धन एवं वंश |
| 5. | ग्रह | - | बृहस्पति |
| | कोण | - | उत्तर |
| | रंग | - | पीला |

- | | | | |
|----|--------|---|--|
| | आकार | - | अष्टदल |
| | प्रतीक | - | सात्विक, आध्यात्मिक, दार्शनिक |
| 6. | ग्रह | - | शुक्र |
| | कोण | - | पूर्व |
| | आकार | - | पंचकोण |
| | प्रतीक | - | स्थल, समुद्र, स्त्री, पुरुष |
| 7. | ग्रह | - | शनि |
| | कोण | - | पश्चिम |
| | रंग | - | काला |
| | आकार | - | मनुष्य |
| | प्रतीक | - | धन, सुख, बल, पराक्रम, यश, आयु, वंश |
| 8. | ग्रह | - | राहु |
| | कोण | - | नैऋत्य |
| | रंग | - | काला |
| | आकार | - | मकर |
| | प्रतीक | - | धन, सम्पत्ति, रोग व्याधी |
| 9. | ग्रह | - | केतु |
| | कोण | - | वायव्य |
| | रंग | - | काला |
| | आकार | - | ध्वजा |
| | प्रतीक | - | सुख, धन, सन्तान, बल, पौरुष ¹¹ |

इस प्रकार उत्तराखण्ड में धार्मिक संस्कार, व्रत, कर्म, पूजा व त्यौहार आदि सभी दृष्टियों से हिन्दू धार्मिक तथा शास्त्रीय पद्धति का ही अनुकरण किया जाता है, लोक कलाओं में भी इनको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

लेकिन लोक समाज में अनेक ऐसी प्रारम्भिक धार्मिक प्रवृत्तियों के अवशिष्ट में दृष्टव्य हैं, जिनका सम्बन्ध सम्भवतः कभी वहां के मूल निवासियों से रहा होगा। यद्यपि इस क्षेत्र में वैदिक संस्कृति एवं पौराणिक हिन्दू देवी-देवताओं में विष्णु, शिव, शक्ति, ब्रह्मा, कार्तिकेय, गणेश, सरस्वती, गंगा, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, नवग्रह, लक्ष्मी आदि को पूजा जाता है तथा विभिन्न प्रतीकों के रूप में उन्हें लोक कला में स्थान प्राप्त है तथापि स्थानीय देवी देवताओं में भैरव, क्षेत्रपाल, घण्टाकर्ण, नाग आदि देवताओं का चित्रण मिलता है। साक्षेत्त्व में कहा जाय तो जनपद के लोक जीवन में लोक कला का प्रयोग भावाव्यक्ति, व्यवहार, कथन से देश के साधन रूप से प्रयोग किया जाता रहा है। इनमें समाज की जीवन शैली भावात्मकता, मनोभावों, सामाजिक सम्बन्ध, उनका सांसारिक परिदृश्य, उनकी प्रकृति एवं पर्यावरण से पूर्णता का संबंध व्यक्त होता है। यहां के लोक जीवन में लोक कला जीवित एवं अनुभव किये गये अनुभव के भाग एवं परम्परा है जिसका निर्माण दैनिक जीवन में नया होता रहता है। ये व्यक्तिगत तथा समाज के अस्तित्व की कहानी कहते हैं, और इनका संप्रेषण पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से होता रहता है। समय समय पर लोक कलाकार एवं दर्शक इनमें नया जीवन फूंकते हैं। लोक की मौखिक परम्परा विलक्षणता लिये हुए रहती है, क्योंकि यह ऐसे सामाजिक-सांस्कृतिक तत्त्वों की प्रमाणिकता में निरंतरता बनाये रखती है, जिनका संरक्षण एवं आदान-प्रदान विचारों, धर्म, ज्ञान, संस्कृति के रूप में सदियों से होता आ रहा है। लोक कला का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरण होते समय सामयिक परिवर्तनों से साम्य बिठाया जाता है जब भी आवश्यक हो किन्तु इससे समाज के विभिन्न पहलुओं को प्रतिबिम्बित करने की जीवन शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं आता।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी लोक कला ग्रामीण जीवन में प्रकृति, वातावरण, पर्यावरण, मौसम, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जागरूकता, कृषि के साधनों में सुधार, सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याओं का प्रकाशन करती है। वास्तव में लोक कला किसी समाज में सामाजिक नियन्त्रण, समाजीकरण, नैतिक सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों के संचरण और उनको बढ़ावा देने का कार्य करती है। विश्लेषणात्मक अध्ययन की दृष्टि से लोक कला का वर्गीकरण करना एक तरफ तो आवश्यक है किन्तु

दूसरी तरफ यह भी स्पष्ट है कि श्रेणियां अनन्य नहीं होती, किन्तु उनका सम्बन्ध वास्तविकता से ही अधिक रहता है। लोक कला में अभिव्यक्ति हुई गढ़वाली जीवन शैली निसन्देह और स्वाभाविक रूप से प्रकट करती है कि यहां के लोक में प्रकृति एवं परस्थितिकीय धरोहरों के प्रति उच्च जिम्मेदारियों का भाव है, एवं यह सिर्फ उनके वातावरण तक ही सीमित नहीं बल्कि व्यक्तिगत, परिवार, गृहस्थ जीवन, सामाजिक, राजनैतिक धार्मिक पर्यावरण सम्बन्धी विषयों को भी छूती है। लोक कला को किसी भी अंचल विशेष के जीवित धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का प्रमाण कहा जा सकता है।

लोक कला का रंगीन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रतिनिधित्व समाज की बहुरंगीन बनावट के गठन को स्पष्ट करता है। ये लोक के दुःख, खुशी, प्रेम, आशा, निराशा, और गर्व को प्रतिबिम्बित करते हैं। लोककला बहुस्तरीय अर्थ में समाज के जीवन की पवित्रात्मक तस्वीर खींचते हैं। किसी भी समाज की संस्कृति को समझने के लिए उस समाज की लोक कला का महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः समाज की वास्तविक संस्कृति और उसकी आत्मा लोक कला में निवास करती है, इनमें जनमानस के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन की विकास यात्रा की प्रचुर मात्रा उपलब्ध रहती है, जो उनकी लोक कला की व्याख्या करने की सामर्थ्य को प्रकाशित करती है।

संदर्भ

- 1-6 लेखकों द्वारा जनपद टिहरी, जनपद उत्तरकाशी, तथा जनपद चमोली के क्षेत्र सर्वेक्षण के आधार पर-
7. भारतीय सौंदर्य शास्त्र का तात्त्विक विवेचन, ललित कलायें, पृ. 95
8. सिम्बालिज्म-इट्स मीनिंग एण्ड एफेक्ट्स, पृ. 15
9. सामकालोजिकल टाइम्स, पृ. 291
10. द सिम्बोलिस्ट मूवमेंट इन लिटरेचर, पृ. 01
11. रत्न, रूद्राक्ष और भाग्य, पृ. 193 से 199

21वीं सदी और शोध-कार्य

डॉ. विजयकुमार वेदालंकार
एसोशिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
हिन्दू कॉलेज, सोनीपत (हरियाणा)

मनुष्य विचारशील प्राणी है। अपनी बौद्धिक विशिष्टता के कारण ही वह अनंत जीव-सृष्टि के बीच सबसे अलग और महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका है। उसमें ज्ञान की अदम्य और अनबूझ पिपासा है, जिसकी तृप्ति अनेकानेक शास्त्रों का उदय उसकी इसी मनस्विता के उदग्र विकास क्रम में हुआ है और होता जा रहा है। ज्ञान के प्रति मानव की निष्ठा इतनी बलवती है कि वह किसी भी उपलब्धि को अंतिम नहीं मानता और निरंतर ज्ञान के परे अज्ञात मर्म के उद्घाटन में रत रहता है। जैसे-जैसे मानव के समक्ष नए-नए ज्ञान क्षेत्र खुलते गए हैं वैसे-वैसे उसकी ज्ञान-पिपासा भी बढ़ती गई है। शोध, उसकी इसी निरंतर परिवर्धित जिज्ञासा के परितोष की प्रायोगिक प्रक्रिया है। ज्ञान क्षेत्र की असीम बहुरूपता के कारण शोध का कार्य क्षेत्र के अपरिसीम है। इसी के विविध संदर्भों में उसे अनेक प्रकार की पद्धतियां अपनानी पड़ती हैं। जहां शोध विज्ञान के क्षेत्र में तथ्यनिष्ठ हो जाता है, वहीं साहित्य के प्रसंग में वह तथ्यात्मक हो जाता है। सत्य तक पहुंचना शोध की प्राथमिक और मौलिक शर्त है, जिसकी पूर्ति के लिए वह प्रामाणिक रूप से तथ्यों का आधार ग्रहण करता है। इस प्रकार ज्ञान मानव

की जिजीविषा है और शोध उसकी जीवन कला। अतः शोध सत्य की तकनीक है और ज्ञान का विज्ञान है।

इस प्रकार 'शोध' शब्द प्रक्रिया-बोधक और परिणति या उपलब्धि-बोध-दोनों की प्रकार की संज्ञा या अभिधान के रूप में उभरता है। मानव की जिज्ञासा की प्रखरता, अनन्तता या असीमता के कारण शोध-कार्य या शोध-कौशल नित-नवीन रूप में परिष्कृत तथा परिनिष्ठित होता रहता है। इससे शोध को चरम परिणति या उपलब्धि-बोधक न मानकर प्रक्रिया-बोधक मानना ही शोध की मूल प्रकृति के सर्वथा अनुरूप जान पड़ता है। इस दृष्टि से 'शोध चल रही है' सुनना जितना अच्छा लगता है उतना 'शोध संपन्न हो गई' सुनना अच्छा नहीं लगता। क्योंकि शोध की संपन्नता से ऐसा प्रतीत होता है जैसे जिज्ञासा, श्रम, लगन, और निष्ठा समाप्त हो गई है। जबकि 'शोध चल रही है' में लगन, उत्कटता और असीम को छूने का भाव झलकता है। वास्तव में सच्ची शोध 'सत्य' का पर्याय है। सत्य अनंत है² तो फिर शोध का भी अंत कैसा? अतः चलते चलो, चलते चलो। बढ़िया से बढ़िया शोध हो। इसी में जिज्ञासा वृत्ति की सार्थकता है।

शोध और अनुसंधान

हिन्दी में 'शोध' और 'अनुसंधान' शब्द समानार्थी रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। इन शब्दों की अर्थ-रूढ़ि का आधार अंग्रेजी का 'रिसर्च' (Research) शब्द है। यदि शब्दशः अनुवाद किया जाए तो 'रिसर्च' का हिन्दी प्रतिशब्द 'पुनरान्वेषण' होता है, किन्तु उससे नियत अर्थ ध्वनित नहीं हो पाता है। इसमें 'अनुसंधान' शब्द 'रिसर्च' का निकटतम अर्थ देता है। 'रिसर्च' शब्द में 'रि' उपसर्ग विमर्श तथा गंभीर अभिनिवेश का अर्थ देता है और शोध-कर्म की अखंडता, अनन्तता, सातत्य व अविरामता की भावना को बहुत सुंदरता से ध्वनित करता है।³ इस दृष्टि से 'रिसर्च' बहुत कुछ 'डिस्कवरी आव फैक्ट्स' का अर्थ संप्रेषित करता है। इसका तात्पर्य है नए अथवा विस्मृत सत्य की खोज। इस अर्थ के सूक्ष्म विस्तार में ज्ञान का पुनर्मूल्यांकन तथा उसकी नवीन व्याख्या स्वतः समाहित हो जाती है, क्योंकि इसके द्वारा भी सत्य-ज्ञान के निहित सत्य का उद्घाटन होता है।

अनुसंधान शब्द भी इसी अर्थ का संप्रेषण करता है। अनुसंधान में

‘धा’ धातु से धारण का अर्थ बोध होता है। ‘सम्’ उपसर्ग के योग से ‘संधान’ शब्द बनता है जो लक्ष्य बद्धता या निशाना बनाने का शब्दार्थ देता है। इसे ‘खोजना’ भी कह सकते हैं। ‘अनुसंधान’ में ‘अनु’ की व्यंजना व्यापक है और यह अंग्रेजी उपसर्ग ‘रि’ का समवर्गी ठहरता है। इस दृष्टि से ‘अनुसंधान’ को ‘रिसर्च’ कासही प्रतिशब्द कहा जा सकता है। किन्तु ‘शोध’ शब्द अपेक्षाकृत व्यापक और गंभीरता अर्थ व्यंजित करने वाला शब्द है। ‘शोध’ शब्द ‘शुध्’ धातु से ‘धज्’ (अ) प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है। यह परिष्करण और प्रमाणीकरण के सम्मिलित अर्थ की व्यंजना करता है। शोधार्थी न केवल सत्य की खोज करता है अपितु उसे परिष्कृत और प्रमाणित करता है। अतः ‘शोध’ शब्द उस पूरे मनोभाव और क्रिया व्यापार को अपने में समेट लेता है जो ‘रिसर्च’ के अंतर्गत समझे जाते हैं किन्तु उससे समग्रतः विवक्षित नहीं होते हैं।

शोध की प्रवृत्तियां

शोध की दो भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियां हैं— एक तो किसी नवीन ज्ञान-क्षेत्र को खोलना अथवा ऐसी नई उपलब्धि करना, जिसकी ओर न पहले किसी का ध्यान गया हो और न जिसके संबंध में कभी कोई प्रयास ही किया गया हो। प्रायः वैज्ञानिक शोध की प्रक्रियाएं इसी प्रकार की होती हैं। टेलिफोन, टी.वी., कम्प्यूटर आदि इसी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। ऐसे शोध-कार्य से कभी तो एक ही व्यक्ति प्रयत्न और प्रयोग करके सफलता प्राप्त करता है और कभी इसमें कई व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार के कार्य का संचालक कोई एक व्यक्ति (वैज्ञानिक) होता है या कोई वैज्ञानिक संस्थान होता है।

शोध-कार्य के दूसरे पक्ष की शाखाएं निःसीम होती हैं। किसी विषय के आंकड़े एकत्र करना, कोई ऐतिहासिक तथ्य ढूंढ निकालना, कोई प्राचीन ग्रंथ खोज निकालना, नए तथ्यों और प्रमाणों से पुराने सिद्धान्तों को निरस्त कर देना, किसी प्राचीन कवि के ग्रंथों या रचनाओं का पूरा विवरण एकत्रित करना, युग विशेष की सामाजिक व्यवस्था, वैज्ञानिक प्रवृत्ति, शासन पद्धति आदि का विवरण एकत्र करना आदि इस प्रवृत्ति के अंतर्गत आते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण शोध-कर्म का लक्ष्य यही होता है कि मानव-समाज

के ज्ञान में वृद्धि हो। उस ज्ञान अथवा उपलब्धि की मानव मात्र के लिए अथवा किसी देश विशेष के लिए कुछ उपयोगिता हो अथवा ज्ञान पिषयक किसी भ्रांति का निराकरण हो तथा ज्ञान-क्षेत्र में मानव-मात्र की क्रिया और विचार पद्धति की संभव प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाने में सहायता प्राप्त हो।

शोध का प्रयोजन

अद्यतन शोध-कार्य व्यक्तिगत अभिरुचि की प्रेरणा और व्यावसायिक उपयोगिता के प्रयोजन से किया जाता रहा है। व्यक्तिगत अभिरुचि से प्रेरित शोध की परम्परा बहुत पुरानी है और आज भी शोध के संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों से असंपृक्त विद्वान लोग अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप विविध क्षेत्रों में खोजबीन करके हमारी ज्ञान-परिधि का विस्तार कर रहे हैं। इस प्रकार विशुद्ध जिज्ञासा से प्रेरित होकर किया गया शोध-कार्य श्रेष्ठ होता है। जबकि व्यावसायिक प्रयोजन को दृष्टि में रखकर किया गया शोध-कार्य सतही होता है। व्यक्तिगत अभिरुचि तथा मनस्विता बहुत कम और केवल कुछ गिने चुने साहित्य-चिंतकों और विश्लेषणात्मक प्रतिभा-संपन्न विचारकों में देखने को मिलती है। वस्तुतः अधिकांश शोध-कार्य व्यवसाय बुद्धि से ही किया गया है। विगत कुछ दशकों में विश्वविद्यालय तथा अन्य शोध संस्थानों से संबद्ध शोध की भूमिका अधिकतर व्यावसायिक अथवा सोपाधिक रही है। यद्यपि इसमें शोध की वास्तविक प्रेरणा से किए कार्यों की संख्या पर्याप्त है, फिर भी, समूचे वर्ग को केवल व्यावसायिक या उपाधि-सापेक्ष कहना ही संगत प्रतीत होता है क्योंकि उपाधि-सापेक्ष शोध की प्रकृति एवं प्रविधि अपेक्षाकृत भिन्न होती है। स्वतंत्र प्रेरणा से किए गए शोध-कार्य में वैदुष्य और आलोचना का उतना ही गहरा भाव होता है जितना तथ्य परकता का। साहित्य क्षेत्र में शोधकर्ता उसकी आत्मा के साक्षात्कार को अपना अंतिम लक्ष्य मानकर चलता है जिसकी सिद्धि तत्त्व चिंता की अपेक्षा तत्त्व दर्शन से अधिक संभव है। उदाहरणार्थ हिन्दी में आचार्य शुक्ल का साहित्य चिंतन ऐसा ही है।

वस्तुतः संस्थागत उपबंधों से निर्गन्धित शोध-कार्य आत्मा के स्थान पर वस्तु सत्य को महत्त्व देता है क्योंकि उसकी प्रविधि-परक व्यवस्था विशिष्ट होती है। इस प्रकार के शोध-कार्य की प्रेरणा विदेश से मिली है। आज की

शोध विषयक अवधारणा इसी परम्परा का विकसित रूप है। शोध की यह तथ्यवादी अवधारणा उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक चरण में यूरोपीय देशों में प्रारम्भ हुई थी। पुरातत्त्व, इतिहास और नृतत्व विज्ञान में इसी रूप को अपनाया जाता रहा है साहित्यिक शोध अपने उदय में इन्हीं का ऋणी रहा है।

तथ्यानुसंधान की ऐतिहासिक भूमिका का यह तात्पर्य नहीं है कि शोध-कार्य की परिधि में न केवल वे विषय स्वीकार किए जाए जो प्राचीन हैं और जिनकी ज्ञेय सामग्री अनुपलब्ध हो। वस्तुतः विश्वविद्यालय शोध के उपबंधों में अनुपलब्ध तथ्यों के अन्वेषण के साथ उपलब्ध तथ्यों के नवीन आख्यान को भी शोध-कार्य के अंतर्गत माना गया है और शोध-प्रबंध में दोनों विशेषताओं का होना अनिवार्य है। शोध-कार्य की इन दो प्रकृतियों को तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान की संज्ञा दी जा सकती है।

विगत कुछ दशकों से शोध-कार्य का सलक्ष्य क्रम प्रयोजन अर्थोपलब्धि ही समझा जा रहा है, जबकि इसका असंलक्ष्य क्रम प्रयोजन ज्ञान की सीमा का विस्तार है। यही इसका चरम प्रयोजन है। यह प्रयोजन शोध के स्वरूप में ही अंतर्हित है और इसका स्वरूप है- नवीन तथ्यों, नवीन विचारों, निष्कर्षों, नियमों, दृष्टियों, परम्पराओं और कारणों आदि का उद्घाटन। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी के शब्दों में- “शोध शब्द में किसी अज्ञात तथ्य को प्रकाश में लाने और प्रतिष्ठित करने का आशय निहित है। इसमें बिखरे हुए तथ्यों का संयोजन और समाहार भी किया जाता है। उसी आधार पर स्थापनाएं एवं निर्णय दिए जाते हैं। अपने मत की पुष्टि के लिए विरोधी मतों का खंडन और निराकरण कर नए निर्णय की प्रतिष्ठा की जाती है। यह नया निर्णय जब स्वतंत्र विचार सरणी के रूप में उपस्थित होता है, तब उसे थीसिस या प्रबंध कहते हैं।”⁵ इस प्रकार के शोध के मुख्यतः पांच लक्ष्य हैं-

1. ज्ञान क्षेत्र का सीमा विस्तार
2. वैज्ञानिक पद्धति की शिक्षा का साधन
3. अर्थोपलब्धि
4. कीर्ति कामना
5. सत्यान्वेषण की अदम्य लालसा

इस प्रकार शोध ज्ञान की साधना है और ज्ञान-वृद्धि के अभाव में शोध का स्वप्न खंडित हो जाता है। जी० एफ० केटरिंग का कथन है कि- शोध और कुछ नहीं है अपितु मानव मस्तिष्क की वह अवस्था विशेष है जिससे वह परिवर्तित मूल्यों के प्रति सहानुभूति रखता हो। यह मानव के अतीत मस्तिष्क की अपेक्षा भविष्य मस्तिष्क का द्योतक है।⁶

शोध के संदर्भ में मस्तिष्क के अतीत और भविष्य की सत्ता का अभिप्राय है कि शोध प्रवृत्ति मानवीय नवनवोन्मेष शालिनी शक्ति या प्रतिभा का परिचायक है। इसके लिए अतीत के मूल्य उसी स्तर तक ग्राह्य हैं जिस स्तर तक वे शोधकर्ता की अन्वीक्षा एवं नूतन तत्त्व निरूपण में सहायक है। निःसंदेह नए मूल्यों के प्रति जागरूकता शोधात्मक सक्रिय मस्तिष्क की परिचायक है।

मौलिकता का प्रश्न

शोध-कार्य का मौलिक होना आवश्यक है। शोधकर्ता शोध-कार्य में मौलिकता का दावा करता है। शोध के संदर्भ में मौलिकता विचारणीय प्रश्न है। इस संबंध में विश्वविद्यालयों के नियमों और उपनियमों में जो संकत दिए गए हैं, वे प्रायः एक से ही हैं। हिन्दी के बहुसंख्यक शोध-प्रबंधों में व्याख्यात्मक मौलिकता के दर्शन कम ही होते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि किसी प्रवृत्ति, धारा, सिद्धान्त, संप्रदाय, व्यक्ति या भाषा के संबंध में जो प्रथम आधारभूत कार्य होता है उसमें तो नए तथ्य होते हैं और कहीं-कहीं नई व्याख्या भी होती है किन्तु उसके बाद उसी विषय पर या उससे मिलते जुलते विषय पर जो शोध-प्रबंध प्रस्तुत होते हैं उनकी सारी मौलिकता एक निबंध में समेटी जा सकती है।

डॉ० कमल किशोर गोयनका के अनुसार- देश के लगभग सत्तर से अधिक विश्वविद्यालयों में अनुमानतः दस हजार शोध-प्रबंध हिन्दी में लिखे जा चुके हैं। यह इतनी बड़ी संख्या है कि हिन्दी विभागों और हिन्दी शोधार्थियों की प्रतिभा और क्षमता पर आश्चर्य होता है। इतने शोध-प्रबंध एक प्रकार से ज्ञान का विस्फोट है, किन्तु दुर्भाग्य यह है कि इनमें से काफी बड़ी मात्रा में एक दूसरे की आवृत्ति और नकल है तथा यदि किसी ने कुछ मौलिक स्थापनाएं की भी हैं तो वे शोध-प्रबंध में ही दम तोड़ रही है। इन

प्रकाशित या अप्रकाशित शोध-प्रबंधों को न तो कोई पढ़ता है और न कोई इन्हें जानना चाहता है।⁷ हिन्दी शोध की इस दुर्दशा के कई स्तर हैं। यह दुर्दशा शोधार्थी के चयन, विषय के निर्धारण, निर्देशक की नियुक्ति, शोध-सामग्री का अन्वेषण तथा परीक्षकों की नियुक्ति तक फैली हुई है। विषय-चयन में भी छात्र की रुचि और विषय का ज्ञान धरा ही रह जाता है। शोध छात्र भी बेमन से शोध-कार्य में लगता है।

मेरे सामने कई बार ऐसी असमंजस की स्थिति आई जब कोई अनुसंधित्सु मुझसे शोध करने की इच्छा व्यक्त करता है और पहले ही काव्य-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त विषयों पर शोध-कार्य कराने की बात कहता है। वस्तुतः काव्य-शास्त्र और भाषा-विज्ञान ही मेरे अध्ययन-अध्यापन के विषय हैं। इन्हीं में मेरी विशेषज्ञता है। तब कैसे मैं अन्य विषयों पर शोध-कार्य कराने की सोच सकता हूँ। यदि ऐसा कहता हूँ तो यह शोधार्थी और शोध-विषय दोनों के प्रति अन्याय होगा।

आज अनेक विश्वविद्यालयों में कुछ सर्वज्ञ प्रोफेसर ऐसे हैं जो अर्थोपलब्धि को अधिक महत्त्व देते हैं और सभी विषयों के शोध-प्रबंध देखने निर्देशन करने के लिए तैयार रहते हैं। ऐसी 'सर्वज्ञता' ने हिन्दी शोध-कार्य को गर्त में डाल दिया है। ऐसे अज्ञानी गाइड और अज्ञानी परीक्षक कैसे शोधार्थी का मार्ग-दर्शन तथा मूल्यांकन कर सकते हैं। ऐसी कलुषित प्रवृत्ति को लेकर 21वीं सदी में कैसे स्तरीय और महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य कर सकते हैं या करा सकते हैं?

वस्तुतः अध्यापन एवं शोध-कार्य की प्रकृति में भेद है। अभी तक विश्वविद्यालयों में अध्यापन को अधिक महत्त्व दिया जाता है और शोध को कम। शोध-निर्देशक को अध्यापन कार्य में कोई छूट नहीं दी जाती है। शोध छात्र अपने व्यक्तिगत संबंधों के आधार पर ही शोध-निर्देशक से कम या अधिक समय ले सकता है। समय देना या न देना शोध-निर्देशक की कृपा पर निर्भर करता है। परिणामस्वरूप परिश्रमी और मेधावी छात्र निर्देशन प्राप्त करने में असमर्थ होकर शोध-कार्य से विरत हो जाते हैं, दूसरी ओर संबंध-स्थापन कला में प्रवीण सामान्य छात्र भी संबंधों को प्रगाढ़ करके निर्देशक के तप-बल से शोधोपाधि प्राप्त कर लेते हैं। क्या आने वाले समय में हम इस ओर ध्यान दे सकेंगे?

आज भी विश्वविद्यालयों/महाविद्यालयों में निर्देशन का कर्म वरिष्ठता के आधार पर दिया जाता है, योग्यता के आधार पर नहीं। यदि किसी अध्यापक का अध्यापन, अनुभव दस वर्ष का है तो उसे पी-एच० डी० का शोध-निर्देशक बना दिया जाता है। भले ही उसकी रुचि अध्यापन और शोध-कार्य में हो। वास्तव में अध्यापन के अनुभव से शोध का कोई संबंध नहीं है। किसी विषय पर प्रकाशित पुस्तकों को अच्छी तरह पढ़कर उस विषय को कक्षा में पढ़ाया जा सकता है, किन्तु शोध-निर्देशन के लिए यह जानना आवश्यक है कि भाषा और साहित्य का कौन-सा पक्ष अज्ञात है। उस विषय में कहां आगे बढ़ने की संभावना है? साहित्य की कौन-सी प्रवृत्ति ऐसी है जिसके मूल तक अभी अध्येताओं का ध्यान नहीं गया है? अथवा कवि विशेष के काव्य में प्रतिपाद्य क्या है? और उस प्रतिपाद्य को भली-भांति स्पष्ट किया जा सका है या नहीं? इन सब बातों के लिए वरिष्ठ प्राध्यापक में यह अध्ययन-शीलता, सूझ और समझदारी हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। अतः मात्र वरिष्ठता को महत्त्व देना उचित नहीं है।

शोध-कार्य की मौलिकता के संबंध में प्रख्यात साहित्यकार एवं प्रबुद्ध चिंतक डॉ० अमरसिंह वधान के विचार ध्यान देने योग्य हैं। उनका कथन है कि—“आज शोध-कार्य के क्षेत्र में न केवल वैविध्य आया है, बल्कि अनेक अच्छे, महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक विषयों की ओर निर्देशकों व शोधार्थियों का बरबस ध्यान भी गया है। लेकिन हाल ही के वर्षों में धड़ाधड़ प्रस्तुत एवं स्वीकृत किए गए शोध-पत्रों, लघु-प्रबंधों एवं शोध-प्रबंधों के अवलोकन-मूल्यांकन से पता चलता है कि शोध-कार्य की जो संस्कृति, गुणवत्ता, पद्धति एवं मानदण्ड निर्धारित थे, उनमें लगातार गिरावट आई है। मौलिकता की व्यावसायिकता और गुणवत्ता के स्थान पर मात्रात्मकता की जग प्रवृत्तियां अधिक हावी हैं।⁸ निःसंदेह भावी विकास के लिए प्रबुद्ध चिंतकों की यह चिंता ध्यातव्य है।”

आज निष्ठावान शोधार्थियों की संख्या कम होती जा रही है। सरकार की रोजगार मूलक नीति ने शोध-कार्य को भी प्रभावित किया है। अब शोधार्थी शोध-कार्य को मौलिकता, गुणात्मकता, रचनात्मकता एवं विशिष्टता की दृष्टि से नहीं देखता, अपितु रोजगार लेने में सहायक की दृष्टि से देखता है। किसी भी विश्वविद्यालय में रजिस्ट्रेशन होने तक शोधार्थी की तत्परता

देखने योग्य होती है। किन्तु शोध-कार्य के लिए रजिस्ट्रेशन होने के पश्चात निर्देशक को शोधार्थी के दर्शन ही दुर्लभ हो जाते हैं। रजिस्ट्रेशन से पहले शोधार्थी निर्देशक के पीछे भागता है और रजिस्ट्रेशन के बाद निर्देशक को शोधार्थी के आने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यदि किसी प्रकार शोधार्थी की चतुराई और निर्देशक की अनुकंपा से शोध-कार्य पूरा हो जाता है तो इससे शोधार्थी को उपाधि तो मिल जाती है परन्तु इसमें शोधार्थी का योगदान नगण्य रहता है। वस्तुतः इस तरह का आपराधिक कर्म शोध-कार्य के नाम पर एक बाला धब्बा है।⁹

शोध की नई दिशाएं

शोध के संदर्भ में नई दिशाओं की पहचान नितांत आवश्यक है। ऐसा न होने पर शोध-कार्य की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। हिन्दी में अभी तक जो शोध-कार्य हुआ है वह 'विशिष्ट साहित्यकार और रचना का अध्ययन', 'काव्य शास्त्र और साहित्य सिद्धांत अध्ययन', 'गद्य की दिशाओं का अध्ययन', 'कृत्तियों का ऐतिहासिक और विकासात्मक अध्ययन', 'प्रदेश विशेष के साहित्य का अध्ययन', 'भाषा संबंधी अध्ययन', 'कोश ग्रंथों का अध्ययन', 'प्रवृत्ति और धारा-विशेष का अध्ययन', और 'सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन', 'समाजशास्त्रीय अध्ययन', भाषा वैज्ञानिक अध्ययन' आदि शीर्षकों के अंतर्गत रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त लोकतात्त्विक अध्ययन, पाठालोचन, टीकाओं का अध्ययन, कालजयी एवं युग प्रवर्तक कवियों के रचना स्रोतों एवं प्रेरणा-भूमियों का अध्ययन, भाषा और साहित्य के विकास में संस्थाओं के योगदान का मूल्यांकन, हिन्दीतर भाषाओं तथा हिन्दी की साहित्य प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन, लिपि-विकास का वैज्ञानिक अध्ययन आदि अनेक दिशाएं हैं, जिनमें शोध-कार्य की पर्याप्त संभावना है। आने वाले समय में इन संभावनाओं का परीक्षण करने के लिए छात्रों को प्रवृत्त करने की आवश्यकता है।

कुछ सुझाव

हम 21वीं सदी में प्रवेश कर चुके हैं। यह हमारे लिए आत्म-निरीक्षण का समय है। अब हिन्दी-शोध के स्तर को ऊंचा उठाने तथा शोध संबंधी अनेक समस्याओं के समाधान के लिए गंभीर चिंतन की आवश्यकता है।

तभी इस शोध के स्तर उसकी गुणवत्ता तथा मौलिकता को बनाए रख सकते हैं। इसके लिए निम्नलिखित तथ्य सहायक सिद्ध हो सकते हैं—

1. शोध-कार्य संबंधी आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध कराई जाए।
2. शोध-कार्य को व्यावसायिक से पृथक रखा जाए।
3. महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में शोध-कार्य कराने वाले अध्यापकों पर अध्ययन भार कम किया जाए तथा उन्हें नवीन विषयों पर कार्य करने के लिए वेतन सहित अवकाश दिया जाए।
4. शोध छात्रों के लिए केन्द्रीय पुस्तकालयों की व्यवस्था की जाए, जिसमें शोध की सभी सुविधाएं प्राप्त हो सकें।
5. शोध छात्रों का रजिस्ट्रेशन उनकी शोध-प्रवृत्ति एवं साहित्यिक बोध को दृष्टि में रखकर किया जाए।
6. शोध-निर्देशक की नियुक्ति योग्यता के आधार पर होनी चाहिए। उसे शोध-प्रविधि का ज्ञान होना चाहिए।
7. प्रत्येक शोध छात्र को शोध-कार्य काल में आर्थिक चिंता से मुक्त रखा जाए।
8. शोध छात्रों को शोध के सिद्धांत और प्रक्रिया की शिक्षा और क्षेत्रीय कार्य का प्रशिक्षण दिया जाए।
9. शोध छात्र की शोध-कार्य की प्रगति की छःमाही रिपोर्ट का मूल्यांकन किया जाए।
10. एक वर्ष तक कार्य करने के बाद अपेक्षित प्रगति के अभाव में शोध छात्र का रजिस्ट्रेशन निरस्त कर दिया जाए।
11. शोध-प्रबंध के परीक्षक उस विषय के विद्वान बनाए जाएं चाहे वे प्रोफेसर हों या न हों।
12. शोध-प्रबंध के प्रकाशन की व्यवस्था की जाए जिससे उसका लाभ अन्य लोग उठा सकें।
13. शोध-निर्देशकों की योग्यता का आंकलन करते समय उनके कार्य को ध्यान में रखा जाए।
14. निर्देशक और शोधार्थी के मध्य स्वस्थ समन्वय स्थापित हो।

15. निर्देशक शोधार्थी की कठिनाइयों को समझते हुए उसे कार्य करने की ओर प्रेरित करे।

16. निर्देशक अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह निष्ठापूर्वक करे।

उपर्युक्त सुझाव तभी प्रभावकारी सिद्ध हो सकते हैं जब इन्हें ईमानदारी से कार्यान्वित किया जाए। आने वाले समय का सदुपयोग तभी हो सकता है जब हम यह संकल्प लें कि किसी भी मूल्य पर हिंदी के शोध-स्तर को ऊँचा उठाएंगे। यूनेस्को की ताजा रिपोर्ट में इक्कीसवीं सदी में प्रस्तावित शोध-कार्य के विभिन्न आयामों में रचनात्मकता, अनुकूलनता और मौलिकता पर विशेष बल दिया गया है।¹⁰ इस दृष्टि से भविष्य में गुणात्मक एवं मौलिक शोध-कार्य ही अपने अस्तित्व को बचाने में समर्थ हो सकेगा।

संदर्भ

1. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष-7, अंक-4, पृ. 24
2. सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्मः - उपनिषद्
3. डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल - समीक्षा के वातामन, पृ. 132
4. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष-7, अंक-4, पृ. 25
5. हिन्दी अनुशीलन (शोध विशेषांक) पृ. 22
6. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष-7, अंक-4, पृ. 364
7. हिन्दी प्रचार-वाणी वर्ष-24, अंक-1, (मई 2003) पृ. 12
8. आदान-प्रदान, वर्ष-4, अंक-1, (सन् 2004) पृ. 5
9. डॉ० अमरसिंह वधान - भाषा, साहित्य और संस्कृति, पृ. 81
10. डॉ० अमरसिंह वधान - भाषा, साहित्य और संस्कृति, पृ. 83

संपर्क - 486, सैक्टर - 26,

सोनीपत-131001 (हरियाणा)

मो. 09896262488

आर्थिक परिस्थितियां और दलित-विमर्श

डॉ. अर्चना आर्य

मानव की आर्थिक परिस्थितियां देवता को मानव तथा मानव को दानव तक बना देने में समर्थ है। साधन सम्पन्न समाज अनेकानेक सुविधाएं जुटाकर उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है, परन्तु दलित या निर्धन वर्ग योग्यता रखते हुए भी कुछ नहीं कर पाता। उच्च वर्ग के लोग जहां अपने ऐश्वर्य के लिए अनाप-शनाप खर्च करते हैं, वहां दलित वर्ग के नेता दो जून रोटी के लिए दुखी रहते हैं। वस्तुतः विवश आर्थिक पराधीनता अज्ञात रूप में व्यक्ति के मानसिक तथा अन्य विकास पर ऐसा प्रभाव डालती है, जो सूक्ष्म होने पर भी व्यापक तथा परिणामतः आत्मविश्वास के लिए विष के समान है। दीर्घकाल की आर्थिक परवशता जीवन में प्रेरणा-शून्यता उत्पन्न कर देती है।

जीवन के संघर्ष में ठहरने की सर्वाधिक क्षमता रखने वाला, आर्थिक दृष्टि से विपन्न दलित वर्ग सदैव दरिद्रता के राक्षस से जूझता रहा है। केवल श्रम के भार और विश्रान्त देने वाले साधनों के नितान्त अभाव ने दलित वर्ग के जीवन का समस्त सौंदर्य नष्ट कर दिया है। वह अपने स्वावलम्बन का भाव भूलकर उसके अभाव में अपने सामाजिक व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर पाता है।

मानव-जीवन में अर्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। मानव का उत्थान-पतन अर्थ पर निर्भर करता है। आर्थिक अथाव में मानव-जीवन कठिन से कठिनतर होता जाता है। निकट परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करने वाला दलित वर्ग

जीवन में आगे बढ़ने के अवसरों से सदा ही वंचित रहा है। कठिन परिश्रम के बावजूद उसका जीवन परेशानियों के कारण कर्ज के बोझ से दबा रहा है। यदि उन्नति का अवसर मिलता भी है, तो स्वजन या परिजन ही उसे खाक में मिलाने को तैयार रहते हैं।

दलित वर्ग में उत्थान की आकांक्षा का अभाव भी उसकी दयनीय अवस्था के कारण है। अर्थ-व्यवस्था की विकासशील परिस्थितियां समाज के जन-जीवन में चेतना के उद्गार का प्रबल माध्यम होती है। जब तक देश की गरीब एवं दलित जनता को भरपेट भोजन, शरीर ढकने के लिए वस्त्र और आवास के लिए मकान नहीं मिलता, तब तक उसके जीवन में आशा और उत्थान की अपेक्षा करना निरर्थक है।

भारत की नई आर्थिक नीति विश्व अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल बनाई गई है, जो साम्राज्यवादी विश्व अर्थ-व्यवस्था का ही अभिन्न हिस्सा नहीं है, अपितु विश्व बैंक और अन्तराष्ट्रीय मुद्राकोष का गठन कर उसके माध्यम से अपने सदस्य देशों को अल्पकालिक ऋण उपलब्ध कराना है। यह संस्था उन्हीं कि हितों का ध्यान रखती है।

नई आर्थिक नीति का अर्थशास्त्र मुक्त व्यापार की अवधारणा पर आधारित है, जिसने पूरे विश्व में बाजारवाद को बढ़ाया है। बाजारवाद का अर्थ है— उपभोक्तावाद,² भूखण्डलीकरण और उदारीकरण की नीति बाजारवाद पर आधारित है जो मुक्त व्यापार की सबसे बड़ी हिमायती है। यह तीसरी दुनिया के देशों में अपनी निर्मित वस्तुएं निर्यात कर उनके बाजार पर कब्जा करके अधिक से अधिक मुनाफा बटोरने की साम्राज्यवादी देशों की सोची-समझी रणनीति है। यह निजीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा देने वाली रणनीति है।

भारत की नई आर्थिक नीति सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका को नियंत्रित और सीमित करके निजीकरण की नीति अपनाने पर जोर दे रही है। कहां निजीकरण उनके लिए आर्थिक-सामाजिक विकास की कुंजी बन गया है, वहीं भूखण्डलीकरण और उदारीकरण के नाम पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को भारत के बाजार से मुनाफा बटोरने की खुली छूट दी जा रही है। विदेशी पूंजी को भारत में निवेश करने की सुविधा के पीछे भी वही निजीकरण की नीति काम कर रही है।

प्रश्न यह उठता है कि इस आर्थिक नीति का देश की अर्थ-व्यवस्था सहित दलित समाज पर क्या असर पड़ा है। इसका निकट भविष्य में आम आदमी और जन-विरोधी नीतियों के दूरगामी प्रभाव से क्या परिणाम निकलने वाला है। यहां हमारा मुख्य उद्देश्य यह है कि आजादी के बाद जिस सामाजिक-आर्थिक ढांचे के संदर्भ में दलित समाज ने जो कुछ हासिल किया और सामाजिक-आर्थिक प्रगति की वह इससे किस तरह प्रभावित हुई है।

आजादी के बाद भारत में कांग्रेसी सरकार ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का ढांचा खड़ा किया। इसी के आधार पर वह पूंजीवादी और समाजवादी देशों से समान रूप में आर्थिक सहायता पाने में सफल हुआ।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप भारत में नियोजित आर्थिक विकास की नीति के अधीन पंचवर्षीय योजनाएं प्रारम्भ की गईं। इसी के आधार पर आर्थिक विकास परियोजनाओं की संकल्पना कर ली गई थी, जिनका एक उद्देश्य यह था कि देश की आर्थिक एवं सामाजिक विकास की उपलब्धियों को अन्य वर्गों के साथ-साथ दलितों की ओर भी केन्द्रीत किया जाए। क्योंकि सामाजिक-आर्थिक भेदभाव के कारण विकास की योजनाओं का लाभ दलितों तक नहीं पहुंच पा रहा था।

सन् 1955 में सत्तारूढ़ कांग्रेस सरकार ने समाजवाद शब्द जोड़कर एक नई औद्योगिक नीति अपनाई, जिसका मुख्य उद्देश्य राज्य औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना करना और यातायात के साधनों के विकास की सम्पूर्ण जिम्मेदारी अपने ऊपर लेना था। वह राज्य की संरक्षणवादी नीति थी, जिसके तहत भारी उद्योगों-स्टील, ऊर्जा, बिजली, रक्षा-उत्पादन, खनिज उद्योग के साथ-साथ रेल, डाक-तार और सरकारी यातायात के साधन आदि राज्य के नियंत्रण और अधिकार क्षेत्र में रखे गए।

सरकार की इस संरक्षणवादी नीति के परिणाम से भारी उद्योगों के विकास के साथ-साथ पूंजीपति वर्ग उत्तरोत्तर समृद्ध होता गया। इसी के साथ लघु उद्योगों एवं कुटीर उद्योगों के विकास में शिक्षित बेरोजगार युवकों को रोजगार के नए अवसर प्रदान करने का प्रयत्न किया गया, जिससे गरीब वर्गों को नियोजित आर्थिक विकास योजनाओं का लाभ अधिक से अधिक मिल सके।

इतना होने पर भी इन नियोजित योजनाओं का लाभ दलित वर्ग को नहीं मिल पा रहा है; क्योंकि भारत की सामाजिक संरचना जातिवाद के आधार पर बनी है। इस कारण जाति-भेदभाव की वजह से उन्हें समुचित लाभ नहीं मिल पा रहे थे।³

छठी पंचवर्षीय योजनाओं में विशेष प्रावधान किए गए और नौकरियों में आरक्षण और स्वरोजगार प्राप्ति के लिए शैक्षणिक योजनाएं बनाई गईं। इसमें शिक्षा-व्यवस्था को मजबूत करना तथा नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था की गई। इन उपायों से दलितों को आर्थिक और सामाजिक दशा सुधारने के अनेक अवसर मिले। सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था की वजह से दलित समाज में साक्षरता का अनुपात बढ़ने लगा। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि बाबा साहब अम्बेडकर ने संविधान में जाति-लिंग भेद से ऊपर उठकर सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था की थी और दलितों के लिए आरक्षण की व्यवस्था करके उनके सामाजिक-आर्थिक विकास के रास्ते खोल दिए थे।⁴

निःसन्देह आजादी के बाद संविधान में दलित वर्ग को पूरा संरक्षण दिया गया, किन्तु क्रियात्मक रूप में जो परिणाम दृष्टिगोचर हुए, वे संतोषजनक नहीं रहे।⁵ इस कारण दलित वर्ग दरिद्रता और हीनता का शिकार रहा। संविधान में आरक्षण के बावजूद देश में आर्थिक समानता लाने और समाज को मानवता के आधार पर खड़ा करने के लिए कई प्रकार की कल्याणकारी योजनाओं को चालू किया गया। मगर खेद है कि जनता से करों के रूप में प्राप्त की गई करोड़ों रुपयों की धनराशि का व्यय करने पर भी स्थिति पूर्ववत् ही रही। इसका लाभ केवल अवसरवादियों और स्वार्थी लोगों ने उठाया। यद्यपि संविधान में दलित वर्ग के लोगों को पूरा संरक्षण दिया गया है। उन्हें देश के अन्य वर्गों के समकक्ष लाने की नीति घोषित की गई है तथा समाज में पैदा होने वाली बुराइयों तथा अस्पृश्यता को दूर करने के लिए बार-बार आश्वासन दिए गए हैं तथापि इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है।

आजादी के चार दशकों में नियोजित आर्थिक विकास के अधीन देश के साथ-साथ दलितों ने जो कुछ थोड़ी बहुत सामाजिक-आर्थिक प्रगति की, उसे सन् 1991 में नई सरकार की आर्थिक नीति ने उलट दिया।⁶

इस तरह नई आर्थिक नीति ने राज्य की भूमिका को सीमित और नियंत्रित कर दिया, जिससे सार्वजनिक क्षेत्रों में कटौती कर दी, जिससे आर्थिक परियोजनाओं में राज्य हस्तक्षेप और भी कम हो गया और संरक्षणवादी नीति का परित्याग कर दिया गया। इससे दलित समाज के विकास के लिए किए जा रहे आर्थिक-सामाजिक सुधार कार्यक्रमों पर अकुंश लग गया और उनमें कटौती कर दी गई।

नई आर्थिक नीति के लागू होने के बारे से ही दलितों की विकासोन्मुखी परियोजनाओं में कटौती होती चली गई। यद्यपि राजीव गांधी की सरकार द्वारा नई शिक्षा नीति बनाकर इस ओर ध्यान दिया गया। शिक्षा-संस्थानों को सार्वजनिक क्षेत्र से अलग करके निजी क्षेत्र को सौंपने की तैयारी हो गई थी। नई शिक्षा नीति को रोजगारोन्मुखी बताकर देश के युवावर्ग के विकास के लिए उपयोगी बताया गया था जबकि उसकी वास्तविक नीति देश के गरीब तबकों और दलितों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने से वंचित करना ही था;⁷ क्योंकि नई शिक्षा नीति निजीकरण पर जोर देती है, जिससे निजी शिक्षण संस्थानों को मनमानी फीस वसूलने की खुली छूट मिल जाए। रोजगार-मुखी शिक्षा नीति का असली उद्देश्य दलितों को दसवीं-बारहवीं की पढ़ाई तक सीमित कर देना है।⁸ उनके पास उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपेक्षित धनराशि नहीं है। आज की शिक्षा नीति दलितों को ऊंचे पदों पर पहुंचने से रोकने का साधन बन गई है।

वस्तुतः नई शिक्षा नीति और नई आर्थिक नीति एक-दूसरे की पूरक है। जिसका सबसे घातक असर दलित-समाज के लोगों पर पड़ रहा है। जातिगत भेदभाव और छुआ-छूत के कारण भी दलित रोजगार पाने से वंचित रह जाते हैं। जबकि सवर्ण समाज का अयोग्य व्यक्ति भी अच्छी नौकरी पाने में सफल हो जाता है। इससे आरक्षण के बावजूद दलितों के रोजगार में गिरावट आ रही है।

आजादी के पचास वर्षों में नियोजित अर्थव्यवस्था के चलते दलितों की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, पर अभी भी उसका सामाजिक आर्थिक स्तर सबसे नीचे है। अन्यों की अपेक्षा उनका जीवन-स्तर भी नीचे है। इतना अवश्य है कि उनकी साक्षरता दर में जरूर सुधार हुआ है।

यद्यपि गांधी के सामाजिक-आर्थिक दर्शन का लक्ष्य 'सर्वोदय समाज' की स्थापना था, जिससे समाज के सभी वर्गों को सर्वोन्मुखी विकास हो। उनकी मान्यता थी कि समाज को बदलने से पूर्व आदमी को बदलना जरूरी है। सर्वोत्तम समाज की स्थापना के सर्वोन्मुखी विकास से ही संभव है।⁹

वस्तुतः गांधी ने भारत में दलित-चेतना को जागृत करने में जो योगदान किया है, वह इस दिशा में प्रयासरत लोगों के लिए 'मील का पत्थर' है।

भारत पुरानी सभ्यता और संस्कृति का देश है। यहां अनेक प्रकार के रीति-रिवाज और रूढ़िवादी कुप्रथाएं प्रचलित हैं। इसे शताब्दियों की गरीबी, सामाजिक बुराईयों और छुआछूत की बीमारी विरासत में मिली है। समाज का कई भागों में विभाजन, एक-दूसरे का शोषण, भविष्य के कल्याण के लिए आर्थिक सुविधाओं का अभाव, आर्थिक विकास में असमानता, स्वार्थी वर्ग के लोगों का अर्थ-व्यवस्था पर नियंत्रण, विवेक की कमी, उत्तरदायित्व के प्रति उदासीनता, राजनीतिक उद्देश्य के लिए जात-पांत के नाम पर वर्गवाद का प्रसार, अपने निहित स्वार्थों और अपनी प्रभुसत्ता को बनाए रखने के लिए दूसरों का शोषण आदि कारणों से समाज में छुआछूत को प्रश्रय मिला था। आर्थिक और सामाजिक असमानता के कारण लोगों में हीनता के भाव पैदा हुए तथा समाज में उच्च स्तर के प्रतिष्ठित लोग उनके तुच्छ भाव से देखने लगे।

देश को समृद्ध बनाने और दलित वर्ग की आर्थिक दशा को सुधारने हेतु सरकार की नई औद्योगिक नीति के अनुसार पूंजीपतियों ने बड़े-बड़े कारखाने और उद्योग चालू किए हैं। इनमें काम करने वाले प्रायः यही दलित और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग के मजदूर ही होते हैं, जिनका निर्वाह दैनिक मजदूरी पर ही होता है। किन्तु ऐसे कार्यक्रम केवल शहरों तक ही सीमित हैं। इसलिए मजदूरी की खोज में लोग अपने गांव से चलकर शहरों की ओर आते हैं। उनके परिश्रम से पूंजी में तो वृद्धि होती है, मगर काम करने वाले दलित वर्ग को उसका लाभ नहीं मिल पाता है। यह लाभ मालिक को ही मिलता है। उनकी चल-अचल सम्पत्ति में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होने से वे लोग अमीर से ज्यादा अमीर होकर समाज में अपने स्वार्थ की सुरक्षा के लिए हर प्रकार की सत्ता प्राप्त कर दलित वर्ग का शोषण करते हैं और दलित वर्ग केवल मजदूरी पर निर्भर रहता है। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी

गरीबी, निर्धनता और अभावों से उसका पीछा नहीं छूटता, जो बुराईयों और छुआछूत के पनपने में सहायक होता है। यदि आर्थिक समानता लाने के लिए सरकार विचार करेगी तो दलित वर्ग में बढ़ता असंतोष नियंत्रित किया जा सकता है।

यद्यपि नए आर्थिक अवसरों की उपलब्धि के कारण भी दलित जातियों के बीच आन्तरिक विभेद बढ़े हैं, लेकिन इस तरह के उदाहरण सीमित और विरल ही हैं। गांव की जजमानी प्रथा के तहत आने वाली जिन जातियों ने अंग्रेजों के जमाने में अपनी आर्थिक हैसियत बेहतर कर ली थी। उन्होंने जाति-क्रम में बेहतर दर्जा पाने के लिए आन्दोलनों की शुरुआत की।¹⁰ इन जातियों ने अपने कर्म काण्डों और जीवनशैली में बदलाव किया। जैसे तमिलनाडू के नाडार और केरल के एडवा अपने दर्जे को सुधारने में सफल रहे हैं। किन्तु आगरा के जाटवों को यह सफलता नहीं मिली है।

दलित वर्ग ने अपने लम्बे अनुभव से यह सीखा है कि जैसे-जैसे वे अपनी जाति सूचक पारम्परिक पेशे को छोड़कर आधुनिक क्षेत्र में अन्य पेशों को अपनाएंगे, उनकी आर्थिक स्थिति सुधरेगी और आरक्षण के माध्यम से सत्ता की संरचनाओं से वे जुड़ेंगे। उसी क्रम में उनकी हैसियत धर्म और जाति निरपेक्ष माध्यमों से अन्त्यज से शूद्र की ओर बढ़ेगी।

जहां एक ओर वर्तमान भारतीय लोकतंत्र ने दलित वर्ग को काफी निराश किया है, वहां लोकतंत्र के कारण ही दलितों को संविधान के अधिकारों के अंतर्गत अनेक मुक्तिकामी और मुक्तिदायक परियोजनाएं चलाने के अवसर मिले हैं। इसी प्रावधान के अंतर्गत 'बहुजन समाज पार्टी' भारत के बड़े भाग में अपना प्रभाव क्षेत्र बनाने में समर्थ हुई है। उसने उत्तरप्रदेश जैसे विशाल राज्य में एकाधिक बार शासन सत्ता पर अधिकार कर गांव-गांव में रहने वाले अकिंचन, दरिद्र और शताब्दियों से पीड़ित उपेक्षित बहुजन को एक नए गर्व, नए शक्ति बोध और आशा की नई किरण दिखाने में समर्थ हुई है।

जहां दलित नेतृत्व सत्ता और शासन पर अधिकार करने में सफल हुआ, वहां कई संदर्भों में उसने प्रायः अपने और अपने परिजनों के आर्थिक-सामाजिक विकास को ही समस्या का समाधान समझकर यह मान लिया कि वर्गीय समस्या हल हो गई। किन्तु यह केवल कल्पना ही रही।

किसी भी मध्यवर्गीय दलित के लिए गरीबी और शोषण की समस्याओं के मुकाबले स्थानीय अथवा धरती पुत्र की अस्मिता का प्रश्न आरक्षण से जुड़े प्रश्न से ज्यादा महत्वपूर्ण है। दलित मध्यवर्ग आरक्षण की नीति और

सम्बन्धित मसलों को प्रभावित करने के लिए दबाव गुटों का निर्माण करते हैं। किन्तु छोटे और सीमांत किसानों, भूमिहीन खेतिहर मजदूरों, कारीगरों और शहरी असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत कुलियों के रूप में गरीब दलित की मुख्य समस्या नई अस्मिता की तलाश नहीं, अपितु दरिद्रता और शोषण ही है।¹¹

आजादी के बाद यद्यपि दलित मध्यवर्ग ने बेहतर मजदूरी और भूमि के वितरण के लिए जमींदार वर्ग ने शोषण के खैया के विरोध में आवाज उठाई है, किन्तु उनके ये आन्दोलन बिखरे हुए और स्वतः स्फूर्त किस्म के थे। उत्तरप्रदेश, बिहार, आंध्रप्रदेश, तामिलनाडू, महाराष्ट्र और गुजरात में दलित भूमिहीन मजदूरों और जमींदारों के बीच टकराव की घटनाएं आम हैं। अपने कई प्रदर्शनों में इन खेतिहर मजदूरों ने आर्थिक शोषण और छुआछूत से सम्बन्धित मांगे रखी है। दक्षिण भारत में कुछ गैर पार्टी मार्क्सवादी समूहों ने दलित भूमिहीन मजदूरों को संगठित करके उनकी चेतना में वृद्धि करने के प्रयास किये हैं। ये समूह चाहते हैं कि दलित उस आर्थिक-सामाजिक ढांचे और सांस्कृतिक यथार्थ के प्रति जागरूक हों, जिसकी वजह से वे अधीनस्थता की स्थिति में फंसे हुए हैं।

देश के ग्रामीण क्षेत्र के दलित आज भी पूर्ववत् दयनीय स्थिति में हैं। न उनके उद्योग धंधों में कोई प्रगतिशील परिवर्तन पैदा हुआ है और न ही उनकी बेकारी दूर हुई है। बल्कि अब भी वे लोग निराश होकर मजदूरी की खोज में पहले की तरह शहरों में भटकते फिरते हैं और तथाकथित उच्च वर्ग के लोग अपनी कूट-भावनानुसार उनका शोषण कर अपना जीवन भोग-विलास में व्यतीत कर रहे हैं।

यहां सबसे प्रमुख प्रश्न जाति के उत्थान का है। गरीबी, पिछड़ापन और अस्पृश्यता के भयंकर रोग से निराश लोगों को सम्पन्न, सुरक्षित और समृद्ध वर्गों के समकक्ष लाने के प्रयास अपेक्षित हैं। कुछ नये उपायों और साधनों को अपनाने से ही उनकी आर्थिक दशा में सुधार संभव हो सकता है। यहां यह भी ध्यान देना उचित है कि जो व्यय हुआ है, उसका प्रयोग ठीक ढंग से हुआ भी है, व्यय के अनुपात से वास्तविक प्रगति का मूल्यांकन आवश्यक है।

यह भी स्पष्ट है कि सरकार द्वारा ग्रामीण दलितों के प्रोत्साहन हेतु कई

प्रकार के ऋण उपलब्ध कराए जाते हैं, ताकि ये आत्मनिर्भर हो सकें। चूँकि इन लोगों में तकनीकी योग्यता की कमी होती है। अतः वे पूंजी को सही ढंग से लगाने और उसे लाभ के साथ वापस लाने की जानकारी से अनभिज्ञ होते हैं। वे अनुभव के बिना उस पूंजी को व्यर्थ के कामों और व्यसनों में खर्च कर देते हैं। जिस उद्देश्य के लिए वे ऋण प्राप्त करते हैं, उसका वैसा उपयोग नहीं कर पाते हैं।¹² इन समस्याओं का निराकरण आवश्यक है। इसके लिए राष्ट्रीय भावना से कार्य करने की आवश्यकता है। स्वतंत्रता के पश्चात दलित वर्ग के कल्याण और उनकी आर्थिक दशा सुधारने के लिए किए गए कार्यों में सहकारिता और व्यापारिक आधार पर होने वाले काम से उनकी आर्थिक दशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु रचनात्मक रूप से कार्य न होने के कारण उनके व्यक्तिगत विचारों में सामूहिक कल्याण की भावना पैदा नहीं हो सकी। यही कारण है कि सहकारिता की नीति के अनुसार प्रस्तावित कार्यक्रम संतोषजनक प्रगति नहीं कर सके। इसका कारण यह है कि दलित वर्ग के लोगों का विवेक इतना सीमित होता है कि उनके प्राप्त होने वाले ऋण आदि से भली भाँति लाभ उठाने की योग्यता नहीं होती। निर्धनता के कारण उनके रहन-सहन की दशा शोचनीय हो जाती है। उन्हें अछूत कहकर पुकारा जाता है। अतः उनकी आर्थिक दशा सुधारने की नितांत आवश्यकता है।

दलित वर्ग में नारी की दशा तो और भी दयनीय है। वह सामाजिक शृंखलाओं में आबद्ध है। दरिद्रता की चक्की में पिसती हुई, गृहकार्य में छीजती हुई, पुरस्कार में शारीरिक दण्ड पाने वाली, आत्मीयजनों के मर्मन्तिक व्यंग्यों, लांछनों तथा अपशब्दों को सहन करने वाली नारी की असहाय अवस्था उसके जीवन को दुखों से भर देती है। धनाभाव के कारण उसे अनैतिक आचरण सहना पड़ता है। इस दृष्टि से भारतीय नारी, विशेषकर दलित-नारी आरम्भ से ही परावलम्बन का शिकार कर रही है। उसे एक-एक पैसे के लिए पुरुष के आगे हाथ पसारना पड़ता है। आर्थिक विषमता के परिप्रेक्ष्य में निर्धनता दैहिक शोषण का सबसे बड़ा कारक तत्त्व सिद्ध हुई है। आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति के कारण बहुत-सी स्त्रियों को यौन-शोषण का शिकार होना पड़ा है। निश्चित रूप से दैहिक-शोषण उन स्त्रियों की विशेष समस्या है, जो आर्थिक विपन्नता से अभिशप्त हैं।

देहाती क्षेत्रों में होने वाले अत्याचार मुख्यतः भूमि-प्रश्नों से सम्बन्धित होते हैं। उच्च वर्गीय भूमि-सम्बन्धों के साथ-साथ वर्ण श्रेष्ठत्व के अभिमान से बदले की भावना अधिक प्रज्वलित हो उठती है और भयानक अत्याचार होते हैं। संघर्ष के मूल कारण वैसे आर्थिक होते हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति जातीय स्तर पर होती है।

आज भी दलितों की आर्थिक स्थिति में सुधार का अभाव है। विडम्बना तो यह है कि आज पढ़े-लिखे, अच्छी नौकरी पेशे से जुड़े अभिजन दलितों का नया वर्ग बन रहा है, जिसने अस्सी-पचासी प्रतिशत अनपढ़, कमजोर, शोषित-पीड़ित बदरंग दलितों से नाता तोड़ लिया है। ऐसा वर्ग अपने बीच के कमजोर, लाचार, फटेहाल भाईयों से नफरत करता है। यह गांव के दरिद्र दलितों से मिलने-जुलने से परहेज ही नहीं करते, बल्कि उनके साथ अछूत के समान व्यवहार भी करते हैं।

स्पष्टतः आज समाज में दलित वर्ग के उत्थान में आर्थिक परिस्थितियां सर्वाधिक बाधक बनी हुई हैं, उनका निराकरण आवश्यक है।

संदर्भ

1. संपादक, महीपसिंह- साहित्य और दलित चेतना - पृ. 68
2. सं० डॉ० आर. एम. एस. विजयी- शोषित समाज की दशा और दिशा: समग्र मूल्यांकन - पृ. 49
3. -वही- पृ. 51
4. -वही- पृ. 52
5. ए० एन० भारद्वाज - अस्पृश्यता एवं मानवता - पृ. 162
6. सं० डॉ० आर. एम. एस. विजयी- शोषित समाज की दशा और दिशा: समग्र मूल्यांकन - पृ. 53
7. -वही- पृ. 57
8. -वही- पृ. 57
9. रामगोपाल सिंह - गांधी - अम्बेडकर डिस्प्यूट एन एनालिटीकल स्टडीज - पृ. 202
10. अभय कुमार दुबे - आधुनिकता के आइने में दलित - पृ. 202
11. -वही- पृ. 211
12. ए० एन० भारद्वाज - अस्पृश्यता एवं मानवता, - पृ. 169

“भक्तिकालीन हिन्दी दरबारी कवि”

सीमा (बाबा) मुकेश शर्मा

किसी भी राष्ट्र की एकता का सूत्र उस देश की भाषा द्वारा ही निर्मित होता है। भाषा अभिव्यक्ति का साधन होने का कारण वहां की जनता की आस्थाओं को प्रस्तुत करती है। इस रूप में भाषा से निर्मित साहित्य जनमानस के साथ-साथ शासकीय स्वीकृति के साथ अधिक फूलता और फूलता है। इतिहास साक्षी है कि समय-समय पर भारत भू-भाग के शासक वर्ग ने अपनी राजनैतिक गतिविधियों के साथ देश के इस सांस्कृतिक समुन्नति की द्यौतक साहित्य को संजोने का प्रयास किया है। शासकीय सुरक्षा साहित्य को एक निश्चित आकार भी देती है और राज्याश्रय साहित्य और साहित्यकार को सुरक्षा प्रदान करता है। यह कोई नई नहीं उपलब्ध तथ्य साक्षी है कि भारतीय साहित्य की उषाबेला में जहां संस्कृत के कवित कालिदास विक्रमादित्य के दरबार की शोभा थे वहीं हस्तिनापुर कश्मीर के मातृगुप्त के दरबार में थे। इसी प्रकार वल्लभी के धरसेन के दरबार में भी कवि भट्टि का नाम मिलता है और कश्मीर के जयमादित्य और अवन्ति वर्मा के दरबार में रत्नाकार का नाम मिलता है। ट

भारतीय में धार्मिक प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण धर्म मत, सम्बन्धी संस्थानों में भी ऐसी प्रवृत्ति दिखाई देती है जहां भले ही मत विशेष सम्बन्धी क्यों न हो रचनाकार को आश्रय प्राप्त हुआ।

इस रूप में जहां भारतीय दरबारों की यह प्रवृत्ति रही वहीं आगे चलकर विदेशी आक्रमणकारियों के भी इस रूप को मान्यता दी। हिन्दी साहित्य इतिहास के आदिकाल में चारणकवि सामन्तीय आश्रय में ही काव्य रचना करते रहे। यद्यपि यह प्रवृत्ति उस युग की रासों परम्परा में अधिक है। जिसमें ऐतिहासिक वीर काव्य परम्परा का रूप मिलता है। कन्नौज के गाहडवाल नरेशों के आश्रय में दरबारी संस्कृति के साथ जुड़े हुए विद्याधर नामक तक मंत्री थे। जिन्हें चतुर्दश विद्याओं का ज्ञाता था। इसी प्रकार कन्नौज के राजा जयचन्द की प्रशस्ति में भट्ट केदार द्वारा रचित जयचंद प्रकाश का उल्लेख मिलता है। भट्ट केदार के साथ-साथ उस युग के माधव भट्ट का उल्लेख भी मिलता है जिसे पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि चन्दबरदायी ने शहाबुद्दीन का राजकवि बताया है। इसी युग में एक मधुकर कवि की चर्चा भी की जाती है। कालिंजर और महोबे के परमार के दरबारों में भी उस काल में आश्रित कवि थे। पृथ्वीराज चौहान के चन्द से सभी परिचित है। सिद्धराज जयसिंह की राज्यसभा में कवि आम भट्ट का नाम प्रसिद्ध है और कर्ण कलचुरि राजा कर्ण के दरबार में बब्बर कवि का नाम आता है।

राज्याश्रित परम्परा में ही 'शाहनामा' के लेखक फिरदौसी का नाम भी आता है और कुतुबुद्दीन ऐबक के दरबार में फखरुद्दीन और अलहसन निजामी दरबारी कवि ही थे भले ही उनकी रचनाएं फारसी में की गई। इसी काल में अमीर हसन देहलवी जियाबारनी और अफीक के साथ-साथ अमीर खुसरो का नाम भी आता है जिन्होंने बलबन से लेकर ग्यावसुद्दीन तुगलक तक के दरबारों में आश्रय लिया।

राज्याश्रय की यह परम्परा हिन्दी साहित्य इतिहास के मध्य में भी दिखाई देती है। बाबर से लेकर जहांगीर और शाहजहां के राजकाल का पूर्वार्द्ध हिन्दी साहित्य इतिहास के भक्तिकाल की समय सीमा में आता है। इस काल में फारसी के साथ-साथ हिन्दी, उर्दू और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का विकास भी दरबारों में हुआ। बाबर और हुमायूं के दरबार में भारतीय भाषाओं का अधिक प्रश्रय नहीं मिला जबकि अकबर के समय में भारतीय भाषाओं के विशेषकर हिन्दी के कवियों को प्रश्रय दिया गया। दूसरी ओर अन्य सामन्तों के यहां भी कवियों की दरबारी संस्कृति के साथ जुड़ा होने के प्रमाण मिलते हैं। कनटि वंश के हरिसिंह देव के आश्रित कवि

उमापति उपाध्याय 'पारिजात हरणा ओईनवार वंश के राजा शिव सिंह के आश्रय में अमृतकर और कंस नारायण के दरबार में श्रीधर का नाम मिलता है। अकबर के दरबार में मुख्य रूप में नरहरि, बहन (बीरबल), तानसेन, गंग, अब्दुल रहीम खानखाना ने भक्तिकाल में भक्तिभाव से इत्तर रचनाएं की। वहीं स्वयं अकबर के साथ-साथ टोडरमल, दुरस जी, होलराय ब्रह्मभट्ट, चन्द्रभान, अमृतराय, जेतराम, जगदीश, जगमग, जोध आदि कवियों के नाम विभिन्न साहित्य इतिहास ग्रंथों में मिलते हैं। अबुल फजल की रचना 'आईने अकबरी' में एक प्रतिभाशाली सामन्त राजाओं सकरण का नाम भी मिलता है। राजा आसकरण, महाराजा जयसिंद के भतीजे पृथ्वी राज, सूरदास मदनमोहन, मनोहर कवि के नाम भी मिलते हैं जिन्होंने दरबारी संस्कृति के साथ जुड़कर काव्य रचना की। ओरहा नरो महाराजा इन्द्रजीत सिंह के दरबार में केशव के नाम से सब परिचित हैं। इनके सम्बन्ध जहांगीर का दरबार भी है। इसी संदर्भ में जहांगीर के राजकाल में, जहांगीर का भाई दानयाल हिन्दीका कवि रहा और राजा सूरजसिंह, राजा मनोहर लाल, जदरूप गोसाई, बिशनदास और वृदाराय हिन्दी के कवि थे। शाहजहां के समय में सुन्दर कविराय, सेनापति, और कविन्द्र आचार्य के नाम मिलते हैं। शिवाजी के पिता शाह जी के दरबार में भक्तिकाल की अंतिम बेला में कवि जयराम का नाम आता है जिन्होंने 'राधा माधव विलास जय चम्पू' की रचना की।

दरबारी संस्कृति के साथ जुड़े हुए दक्खिनी हिन्दी के कवि भी साहित्य इतिहासों में उल्लेखनीय हैं। गुलबर्गा दरबार के फिरोजशाही काल में ख्वाजा बंदे नवाज-गोसूदराज के नाम से तो हम सभी परिचित हैं ही। भक्तिकाल की प्रारम्भिक बेला में उनका 'चक्कीनामा', 'मेराजनामा' और से पारा ग्रंथाआलपों भी अकालाओं से बाहर आ चुकी है। गोलकुण्डा के कुतुबशाही काल में अब्दुल्ला-कुतुबशाह के दरबार में जहां अफजल का 'मुहीउद्दीननामा' और मुल्ला वजही (असुदल्लाह) की 'कुतुबभुशतरी' और गवासी का 'सैफुलमुलक' व 'बदीउलजमाल', 'मैनासतवन्ती' और तुतीनामा तथा बीजापुर के आदिलशाही दरबार में मुकी भी 'चन्दरबदन वमहियार' प्रसिद्ध रचनाएं हैं। अब्दुल गनी का ब्रह्मिनामा इब्राहिम आदिलशाह के दरबार में रचा गया और मुहम्मद आदिलशाह के दरबार में सनअती ने 'किस्सा-ए-बेनजीर' लिखा।

राज्य दरबारों के अतिरिक्त उस समय संत-महंतों और गुरुओं के भट्टों

में भी कवियों को आश्रय प्राप्त होता था। इस संदर्भ में पंजाब में विशेष रूप से गुरु दरबार में कवियों ने आश्रय प्राप्त किया। सिक्ख पंथ के गुरु अमरदास ने जब गुरु रामदास को गुरुपद सौंपा तो उस समय कवि सुन्दर दास ने उसका वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त गुरु ग्रंथ साहब में संकलित भट्ट वाणी का मूल उद्देश्य गुरुओं की प्रशस्ति गान का वो रूप था जिसे सामन्तों के यहां भट्ट लोग राजे-महाराजाओं के पूर्वजों के कारनामों और महान कर्तव्यों का बोध करवाया करते थे। गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित भट्ट कवियों ने गुरु महिमा और उनके महामानवीय गुणों को उजागर करते हुए ही काव्य-गान किया है। इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा प्रधान है। जालप, तीर्थ, भीखा, सल्थ, भल्य, नल्य, गपंद, मथुरा, हरबंस प्रमुख भाट हैं, जो गुरु नानक से गुरु अर्जुन देव तक माने जाते हैं। छठें गुरु हरगोबिंद के दरबार में भी नथमल और अब्दुल्ला नामक टाढी थे।

जलालपुर के नवाब शाहबाज खां के आश्रय में जयमल नामक कवि का नाम मिलता है। बरदाई खानदान के राजा ज्वाला नाथ का सम्बन्ध भी लाहौर दरबार से रहा है। इन दरबारी कवियों ने वार नामक एक काव्य परम्परा को चलाया जिसमें आश्रयदाताओं के शौर्य और दानवीरता का स्तवन् किया जाता था। 'सद्' सधुक्कड़ी भाषा में थे। जिनमें शान्ति पाठ होता था। इस प्रकार हिन्दी के भक्ति काल में दरबारी काव्य भी यह एक ऐसी परम्परा है जिसे राज्याश्रित रूप में युगीन धारा भक्ति के साथ मिलाते हुए उस युग की अन्य प्रवृत्तियों वीरः प्रशस्ति, चरित, और शृंगार आदि को लेकर काव्य रचना की गई। यह ठीक है कि इन रचनाओं के अभी पूरी तरह साहित्येतिहास में स्थान नहीं मिला। साहित्य इतिहासकार अभी भारतीय हिन्दी के स्थान पर हिन्दी प्रदेशीय हिन्दी पर ही अधिक केन्द्रित है। जबकि इतिहास साक्षी है कि हिन्दी समग्र भारतीय चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। ना कि मात्र हिन्दी क्षेत्र था। विभिन्न शोधार्थियों ने अलग-अलग क्षेत्रों में कार्य करते हुए कुछ स्तुल्य प्रयास किये हैं। जिस कारण हमें भक्तिकाल के पुनः मूल्यांकन की आवश्यकता पड़ रही है।

संपर्क : जी. डी. गोयनका

पब्लिक स्कूल, मानावाला, अमृतसर

राष्ट्रीय चेतना की संवाहक लोक-रंगमंचीय विधा-सांग

हनीफ़ भट्टी

लोक-रंगमंच पर विचार करें तो यह दो शब्दों 'लोक' व 'रंगमंच' के मेल से बना है। 'लोक' के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रकट किए। लोक ऐसे लोगों का समूह है जो गांव में वास करते हैं और ये सीधे-साधे लोग सादा जीवन व्यतीत करते हैं जिनके ज्ञान का आधार ग्रन्थ व पोथियां नहीं होती। आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में लोक शब्द का प्रयोग साधारण जन, जगत, संसार, विश्व, सर्वलोक आदि ग्रंथों में किया है।

रंगमंच भी दो शब्दों से निर्मित है—'रंग' व 'मंच'। अनेक विद्वानों ने इस पद भी अपनी टिप्पणियां दी हैं। रंगमंच में मंच शब्द अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि रंग शब्द में ही मंच अपने आप ही विद्यमान होता है अर्थात् वह ऊंचा स्थान जहां पर कोई अभिव्यक्ति दी जाये। निष्कर्ष में लोक-रंगमंच उन लोगों का मंच है जो देहातों या गांवों में वास करते हैं जिनके ज्ञान का आधार पोथियां या ग्रंथ नहीं होते, जो स्वाभाविक व अनायास ही अपने तरीके से मनोरंजन के लिए अभिव्यक्ति देते हैं परन्तु इसमें कलात्मक सप्रयास अभिव्यक्ति नहीं होती जिनके पीछे सारा समाजशास्त्र होता है और पूरे समाज या समुदाय का योगदान भी हो। लोक रंगमंच के संबंध में एक विचार जिसका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि हर फन की प्रदर्शन कला

लोक रंगमंच नहीं बन सकती। इसके पीछे लोक की गहरी आस्था होती है। सैकड़ों वर्षों के थपेड़े खाकर उसमें एक प्रकार का निखार एवं आकार प्रकार आ जाता है। दर्शक इसकी परम्परा से किसी प्रकार का जोड़ तोड़ नहीं चाहता। इस लोक रंगमंचीय विधा का एक उत्तम रूप है— सांग। यह हरियाणा प्रांत की पुरुष गेय विधा है। यह हरियाणा की एक कौमी लोक रंगमंचीय विधा भी है। रंगमंच केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं दरअसल शिक्षा, जन जागृति, राष्ट्रीय पुनर्जागरण का भी एक सशक्त माध्यम रहा है। सांग और लोक जीवन का गहरा संबंध है। दोनों एक दूसरे को अनुप्राणित और अनुप्रेरित भी करते रहते हैं। इन सांगों में लोक जीवन की आत्मा, इनकी आस्था व उनका स्वाद विद्यमान रहता है। नगाड़े पर पड़ती करारी चोट, बच्चे, बूढ़े, जवान सबको आने पर मजबूर कर देती है। सांग रात-रात भर चलते रहते हैं परन्तु दर्शकगणों पर वहां बैठे रहने के लिए किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता व सांग देखने के बाद दर्शक अपनी इच्छा से धन या अन्य सामग्री सांगी की झोली में डाल देते हैं।

सांगी कथा को इतने सहज-स्वाभाविक तरीके से प्रस्तुत करता है कि दर्शक उससे प्रभावित तो होता ही है वो उस विषय को किसी प्रकार का उद्देश्य नहीं मानता। इससे सांगों के विषय में यह निष्कर्ष निकलता है कि सांग जनता का कितना सशक्त मंच है। राष्ट्रीय चेतना व जनजागरण में सांगों का योगदान कम नहीं रहा है। अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो सांगों के प्रति अथाह लगाव व सम्मान पैदा करते हैं। बहुत से सांगी ऐसे हुए हैं जिन्होंने सांगों से कमाया धन देश हित के कार्यों जैसे विद्यालयों, धर्मशालाओं व गरीब कन्याओं के विवाह के लिए दान किया है। 'वस्तुतः राष्ट्रीय उन्नति एवं उत्थान में सांगों का योग कम नहीं। प्रसिद्ध सांगी श्री चन्द्रलाल भाट उर्फ 'वादी' (पंत नगर जिला मेरठ) ने सांगों के प्रदर्शन से ही नांगलोई गांव से 55 हजार रुपये चन्दा एकत्र कर राष्ट्रीय रक्षा कोष के निमित्त 23 फरवरी, 1963 को श्रीमती इंदिरागांधी को दिया था। साथ में अनेक स्थानों से पारितोषिक के रूप में मिले सोने के तमगे तथा 101 रुपये की इस कलाकार ने राष्ट्रीय रक्षा कोष के निमित्त दिये।" सांगकारों अर्थात् सांगियों ने अनेक सामाजिक कुरीतियों, जीवन मूल्यों के हास, जन-जागृति, राष्ट्रीय भावना की कमी, युद्ध स्थिति व शिक्षा के अभावों को समझा और इन विषयों पर सांगों

की रचना की व लोगों के सम्मुख उनको प्रदर्शित किया। इन सांगों का जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। सांग कला की अन्तर्गत विशेषता रही है कि जिसने युद्ध और संघर्ष की भीषण स्थिति में लोगों को एक सूत्र में बांधे रखा और बलिदान, त्याग व दानवीरता का पाठ पढ़ाया।

पं० दीपचन्द एक कुशल सांगी ही नहीं अपितु अपने आप में चलता फिरता स्कूल भी है उनके कंठ में एक अजीब जादू है उनकी रागिनी जनता में बिगुल का कार्य करती थी। भारत-चीन संघर्ष की पृष्ठभूमि पर लिखे सांग की ये पंक्तियां कुछ इस तरह विवरण प्रस्तुत करती हैं—

“कुरुक्षेत्र सा हिमालय में मैदान भी होगा।

अर्जुन होगा लक्ष्मणधारी वाण भी होगा।

इस देश का विद्यार्थी फौजी जवान भी होगा।

अपनी धरती के लिए वीर कुर्बान भी होगा।”

इस प्रकार एक सांग में पत्नी अपने पति से रागिनी के द्वारा निम्न पंक्तियां कहती है—

मानो तो पिया तुम्हें बता दूं एक काम की बात

ले चल साजन मुझे फौज में साथ

डट के घमासान युद्ध कर दूं, दिन को बना दूं रात।

ले चल.....॥

सांगी चाहे स्वयं पढ़ा लिखा न हो,, उसने दर्शनशास्त्र और विज्ञान की शिक्षा न ली हो पर उसका अनुभव और उसका व्यवहारिक ज्ञान राष्ट्रहित में सतत गतिशील रहता है। उसका राष्ट्रीय चेतना पैनी होती है। वह राष्ट्र की सम-सामयिक परिस्थितियों और गतिविधियों को समझता है व इस यथार्थ को अपने सांगों के माध्यम से जन-जन तक पहुंचाता है जिस विधा के द्वारा जनता के जीवन दर्शन को परिवर्तित किया जा सकता है, जिस कला के प्रदर्शन के प्रभाव से घबराकर उसे बंद करने के लिए अश्लीलता का जामा पहनापकर संस्थाओं की सभाएं बुलाकर प्रस्ताव पास कराने पड़े जिस कला के प्रभाव से राष्ट्र की रक्षा हेतु लोग अपना सब कुछ न्यौछावर करने के लिए तत्पर हो जाएं उस कला का राष्ट्रीय महत्त्व स्वयं सिद्ध है।

अमरकान्त की कहानियों का रचना-संसार

अमरकान्त नई कहानी आन्दोलन के एक सशक्त कहानीकार हैं। यद्यपि उन्होंने आज के कई कहानीकारों की अपेक्षा बहुत कम लिखा है। लेकिन जितना भी लिखा है, वह अच्छा और सशक्त है। इन्होंने प्रगतिशील कहानी के नाम पर यथार्थ की विकृतियों की भरसक आलोचना की है। अमरकान्त ने सन् 1954 में 'दोपहर का भोजन' तथा 1955 में 'डिप्टी कलक्टरी' लिखीं। ये दोनों कहानियाँ 'कहानी' पत्रिका के सन् 1956 के अंक में छपी थी। 'जिन्दगी और जौंक' भी सन् 1956 में 'संकेत' नामक पत्रिका में छपी। इनकी ये तीनों कहानियाँ एक साथ लिखी गईं तथा प्रकाशित भी एक ही वर्ष में हुई हैं। इस प्रकार "अमरकान्त ने जब हिन्दी कहानी में प्रवेश किया तो वह कहानी में एक नये उन्मेष का काल था और आगे चलकर लेखकों और आलोचकों की एकत्र सहमति से, इसे ही 'नयी कहानी' की संज्ञा दी गयी। इस नये उन्मेष को उसकी संपूर्णता में पहचानने और रेखांकित करने की कोशिश सन् 1955 के आसपास ही दिखाई देने लगी थी।"

(अमरकान्त वर्ष-1- पृष्ठ-145)

प्रेमचन्द के पश्चात् अमरकान्त ही ऐसे कहानीकार हैं जो अपने आस-पास के लघु से लघु पात्र पर भी ध्यान देते हैं। 'जिन्दगी और जौंक', 'कुहासा' और 'मूस' आदि कहानियों में मेहनत-मजदूरी करने वाले चरित्र देखे जा सकते हैं। अमरकान्त ने इन्हें इस प्रकार चित्रित किया है कि हमारी सहानुभूति इन पात्रों के साथ उमड़ पड़ती है। इन्होंने निम्नवर्ग के मजदूरी

करने वाले पात्रों जैसे नौकरों-रजुआ (जिन्दगी और जौंक), दूबर (कुहासा), मूस (मूस) आदि को अपनी कहानियों में प्रमुख स्थान दिया है। जहां अनय कहानीकारों ने इस वर्ग के पात्रों के प्रति संवेदना जगाई है वहां अमरकान्त ने बिना किसी पक्ष के ऐसा चित्रण किया है कि पाठक की सहानुभूति स्वयं ही इन पात्रों के प्रति उत्पन्न हो जाती है।

‘जिन्दगी और जौंक’ अमरकान्त की प्रतिष्ठित और बहुचर्चित कहानी है; जिसमें रजुआ पात्र का चित्रण बड़ा मार्मिक हो गया है। रजुआ जो मरना नहीं चाहता। “चूँकि वह मरना नहीं चाहता था इसलिए जौंक की तरह जिन्दगी से चिपटा रहा। लेकिन लगता है, जिन्दगी स्वयं जौंक सरीखी उससे चिपटी थी और धीरे-धीरे उसके रक्त की अंतिम बूंद तक पी गयी।” (अमरकान्त की संपूर्ण कहानियां, भाग-1, पृष्ठ-69)। आदमी जौंक है या जीवन स्वयं जौंक-कौन किसका खून पी रहा है? इन सभी स्थितियों को अमरकान्त ने बड़े ही प्रभावशाली ढंग से उजागर किया है। हास्य और व्यंग्य का सहारा लेते हुए उन्होंने बड़ी ही सादगी से जीवन-सत्य को प्रतिबिम्बित किया है।

अमरकान्त ने अपनी कहानियों में निम्नवर्ग की विडम्बना, त्रासदी विसंगति और दयनीय स्थिति का निरूपण कर पाठकों में संवेदना जाग्रत की है। यही कारण है कि “अमरकान्त के अधिकांश पात्र अपनी समस्याओं, स्थितियों या सपनों में उलझे फंसे या डूबे हुए लोग हैं और उन्हें जब दूसरों की दृष्टि से देखा जाता है तो उनकी सारी छोटी-छोटी कोशिशें हास्यास्पद चेष्टाएं बनकर रह जाती हैं।” (अमरकान्त-वर्ष-1, पृष्ठ 192) अमरकान्त की कहानियों का रचना-संसार अपने आसपास के जीवन्त परिवेश से निर्मित और जीवन का वैविध्य, उसकी ताजगी और अनगढ़ता ही उनकी कहानियों का सबसे बड़ा आकर्षण है। उन्हें देश, समाज और सामान्य व्यक्ति के बारे में व्यापक और गहरी जानकारी है। वे नयी कहानी के यथार्थ व सजीव भावभूमि एवं संवेदना के स्तर पर अपने अन्दर परिवर्तन महसूस कर सामान्य व्यक्ति की आशा, निराशा तथा उसके संघर्ष को पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

अमरकान्त की कहानियों का क्षेत्र मुख्यतः पूर्वी उत्तर-प्रदेश के गांव, कस्बे और छोटे शहर हैं। वे जिस परिवेश में रहते हैं उसी का चित्रण अपनी

कहानियों में करते हैं, जिससे उनकी कहानियां अधिक आत्मीय और प्रामाणिक हो गई हैं। उनके पात्र तथा कथानक शहर तथा नगर के उतने नहीं हैं जितने कि गांव और कस्बे के हैं। यद्यपि अमरकान्त को बाबू वर्ग का कहानीकार प्रायः कहा जाता है लेकिन उनकी कहानियों में बाबू वर्ग की स्थिति का उतना चित्रण नहीं है जितना निम्न मध्यवर्ग की स्थिति का चित्रण है। 'मूस', 'हत्यारे', तथा 'कुहासा' आदि गरीब और मजदूर की त्रासदी को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने वाली कहानियां हैं। 'कुहासा' कहानी का 'दूबर' घर से भगा दिया जाता है लेकिन शहर में आकर उसकी स्थिति और भी दयनीय हो जाती है। इसी प्रकार 'मूस' की परबतिया गरीब है, पिछड़े वर्ग की है लेकिन आर्थिक स्वावलम्बन के कारण वह भी पति की अवज्ञा करती है।

अमरकान्त की कहानियों में महानगर नहीं है। मध्यवर्गीय व्यक्ति की सोच भी नहीं है बल्कि गांव, कस्बा तथा छोटे नगर के साधारण पात्र हैं। वे अपने परिवेश के पात्रों को उनकी समस्त गतिविधियों, भाव-भंगिमाओं तथा कमजोरियों के साथ चित्रित करते हैं।

अमरकान्त ने अपनी अधिकांश कहानियों में तर्कहीन व्यवस्था के अन्तर्गत, जिसमें परिश्रम और उसके फल का समुचित सम्बन्ध नहीं है, निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की समग्र मानसिकता के सन्दर्भ में चित्रण करते हैं। उसके भाग्यवाद, धर्म-कर्म, जप-तप, अंधविश्वास, दया, कर्तव्य और उदारता में विश्वास, उसकी निष्क्रियता तथा प्रत्येक कार्य को सरल समझने की वृत्ति—उनकी कहानियों की संवेदना का मुख्य आधार है। महानगरीय जीवन की समस्याओं जैसे अकेलापन, अपरिचय, संवेदनहीनता, तटस्थता, कृत्रिमता, व्यर्थता-बोध और फालतू आदि का चित्रण उनकी कहानियों में नहीं है। वस्तुतः इनकी पक्षधरता आम आदमी के साथ है। वे उसकी समस्याओं की जड़ तक पहुंचते हैं। जनसाधारण के जीवन के प्रति इनका यह लगाव इनकी कहानियों में स्पष्ट रूप से चित्रित हुआ है।

निम्न-मध्यवर्गीय परिवार की स्थिति पर लिखी गई अमरकान्त की एक अन्य कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' नए वातावरण की कहानी है। स्वतन्त्रता के पश्चात् अपनी स्थिति को सुधारने की कोशिश में लगा परिवार ऊँची नौकरी के सपने देखता रहता है। उसकी आशा में कर्ज लेकर अपने लड़के के

माध्यम से आकांक्षा पूरी करना चाहता है। अपना पूरा ध्यान बेटे के सफल होने पर लगा देता है। उसकी लालसा है कि उसका बेटा डिप्टी कलक्टर बन जाए। आशाएं धरी रह जाती हैं जब सब कुछ ठीक तरह से चलने के बाद भी लड़का 'डिप्टी कलक्टरी' की परीक्षा में काफी पीछे रह जाता है। इस प्रकार अमरकान्त की कहानियों में "मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के बारे में जितनी व्यापक जानकारी दी गई है शायद ही किसी अन्य कहानीकार के पास वैसी जानकारीयां हों।..... उनके तमाम समकालीन तथा बाद के अनेक कथाकार आज अपनी अंतिम मंजिलों का ऐलान कर चुके हैं, पर अमरकान्त उसी निष्ठा से रचनारत् हैं।" (समकालीन हिन्दी कहानी-बलराम-पृष्ठ-103)

इस प्रकार अमरकान्त ने चरित्रों को जीवन की वास्तविकता से ग्रहण किया है। इन चरित्रों में उच्चवर्ग, मध्यमवर्ग, निम्न-मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय चरित्र हैं। उच्चवर्ग के चरित्र जहां अन्य वर्गों को हेय और उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। वहीं मध्यवर्गीय चरित्र निम्नवर्गीय चरित्रों का शोषण करने में भी कोई कसर नहीं छोड़ते। अपनी समस्याओं से जूझते हुए ये चरित्र 'जिन्दगी और जौंक', 'दोपहर का भोजन' और 'डिप्टी कलक्टरी' आदि कहानियों में चित्रित हुए हैं। देश की व्यवस्था और उस व्यवस्था में सफेद पोश जिन्दगी व्यतीत करने वाले पात्र 'जनमार्गी', 'देश के लोग' तथा 'बस्ती' आदि कहानियों में चित्रित हुए हैं। कुछ न करने वाले और समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न करने में सहायक चरित्र 'हत्यारे' तथा 'गगन बिहारी' आदि कहानियों में चित्रित हुए हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात् परिवार का स्वरूप बदला और जीविका अर्जन के लिए लोग घर से बाहर जाने लगे। आर्थिक स्वालम्बन ने उन्हें बाकी परिवार से काट दिया और संयुक्त परिवार टूट कर मात्र दो या तीन सदस्यों वाले बन गए। उन पर न तो बड़ों का प्रभाव रहा और न ही अपने वृद्धों के प्रति सम्मान। स्वतन्त्रता पूर्व की कहानियों में जो लगाव बुजुर्गों के प्रति था वह स्वतन्त्रता पश्चात् वैसा न रहा। अमरकान्त की कहानियों में इस परिवर्तित संवेदना को विषय बनाया गया है। परिवर्तित परिस्थिति और मानसिकता के द्वन्द्व को अमरकान्त की कहानियों में विशेष महत्व मिला है 'उनका आना और जाना' कहानी में अमरकान्त ने संयुक्त परिवार के विघटन और परिवर्तित मानसिकता का चित्रण किया है। गोपालदास अपने बेटे के पास

शहर चला जाता है। वहां वह अपने को व्यर्थ महसूस करता है। (देखिए, पृष्ठ-86) वस्तुतः यह स्थिति सिर्फ गोपालदास की ही नहीं है बल्कि बदलते परिवेश में नयी पीढ़ी की परिवर्तित मानसिकता ने पुरानी पीढ़ी के प्रति उपेक्षा भाव तथा अपनी सोच-समझ को पूर्ण रूप से अपने तक ही सीमित कर रखा है।

इस प्रकार सामाजिक जीवन में होने वाले परिवर्तन व्यक्ति के निजी संबंधों को गहरे स्तर पर प्रभावित करते हैं। अकाल मानवीय संबंधों को कहां तक प्रभावित करता है, इसका चित्रण अमरकान्त ने 'कुहासा' और 'निर्वासित' आदि कहानियों में किया है। यह अकाल का ही प्रभाव है कि जिसने पिता और पुत्र के संबन्धों को बुरी तरह प्रभावित किया है। अकाल में अभावग्रस्त हो जाने के कारण एक पिता अपने पुत्र को इसलिए मार-पीटकर घर से निकाल देता है कि वह उसे रोटी नहीं दे सकता। ('कुहासा', अमरकान्त की संपूर्ण कहानियां, भाग-2, पृष्ठ-152)। पति-पत्नी के संबंध भी सुख-दुःख में एक जैसे नहीं रहते। जब सुख के दिन थे, तो पत्नी इस तरह बोलती, जैसे फूल झड़ रहे हैं। सबका ख्याल रखती थी और सेवा भी करती थी। ('निर्वासित', अमरकान्त की संपूर्ण कहानियां, खंड-1, पृष्ठ-325)। वही अकाल की यातनाओं से पीड़ित होकर अपने बीमार पति से कहती है कि "मैं तेरा गड्ढा नहीं भर सकती। खाना है, तो अपना जांगर चला। जांगर नहीं चलता, तो भीख मांगकर खा।" ('निर्वासित', पृष्ठ-326)। यह ऐसी स्थिति है जहां सब प्रकार की संवेदनाएं समाप्त हो जाती हैं और मानवीय संबंध बुरी तरह टूट जाते हैं।

वस्तुतः यहां स्थिति प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी जैसी ही है। जहां एक ओर बुधिया है जो प्रसव-वेदना से तड़प रही है और जिसकी तेज चीखें घीसू माधव को विचलित नहीं करतीं। वे इस सब से अनभिज्ञ नहीं हैं लेकिन भूख के कारण भुने हुए आलू का अधिक हिस्सा खाने के लिए आपस में दांव-पेंच करते रहते हैं। जहां स्थिति इतनी दुरूह हों कि मनुष्य पशु-स्तर पर जीने को बाध्य हो जाए, वहां उनसे किसी मानवीय व्यवहार की अपेक्षा भी व्यर्थ है। (नयी कहानी और अमरकान्त, निर्मल सिंघल, पृष्ठ-203)। अतः अमरकान्त ऐसे रचनाकार हैं जिन पर रूपवादी विशिष्टता का दबाव नहीं है। सामाजिक जीवन की त्रासद से त्रासद स्थिति को वे बहुत ही हल्के अन्दाज

से विनोदपूर्ण शैली में इस प्रकार चित्रित करते हैं कि वर्णन देखने पर बहुत ही सपाट लगता है लेकिन चोट गहराई तक करता है।

अमरकान्त प्रगतिशील चिन्तनधारा के कहानीकार हैं। उनकी कहानियाँ 'जिन्दगी और जौंक', 'डिप्टी कलक्टरी', तथा 'मूस' प्रगतिशील तत्त्वों की अभिव्यक्ति करने वाली कहानियाँ हैं। अमरकान्त, भीष्म साहनी और रांगेय राघव आदि प्रगतिशील चिन्तनधारा के प्रमुख रचनाकार हैं। डॉ० बच्चनसिंह ने भी कहानी आन्दोलन से जुड़े रचनाकारों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "लेखकों को सुविधा की दृष्टि से दो वर्गों में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग में रांगेय राघव, अमरकान्त, भीष्म साहनी, शेखर जोशी, और हरिशंकर परसाई आयेंगे तो दूसरे वर्ग में कमलेश्वर, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा, मन्नू भंडारी और उषा प्रियवंदा की गणना की जाएगी। पहला वर्ग प्रगतिशील चिन्तनधारा से सम्बन्धित है तो दूसरा वर्ग आधुनिकता से।" (हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-बच्चन सिंह, पृष्ठ-527)। प्रगतिशील कहानीकारों के सन्दर्भ में आगे लिखा है कि "अमरकान्त की कहानियों को लें जिनमें प्रेमचन्द के गांव मिलेंगे जो पहले से ज्यादा गरीब और विपन्न हो गए हैं।..... 'दोपहर का भोजन' की गरीबी में प्रेमचन्द की भावुकता तो नहीं है पर इकहरापन अधिक है। 'जिन्दगी और जौंक', 'कफन' की छाया को लिए हुए भी उससे भिन्न है।" (हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-बच्चनसिंह, पृष्ठ-527)। अतः अमरकान्त एक ऐसे रचनाकार हैं जिनमें कथ्य और शिल्प का गठन बहुत ही कौशल के साथ किया गया है। इनकी अन्य कहानियाँ जैसे; 'इन्टरव्यू', 'गले की जंजीर', 'काली छाया', 'केले, पैसे और मूंगफली', 'फर्क', 'शाम', 'प्रिय मेहमान', 'मुलाकात', 'दो चरित्र', 'आमंत्रण', 'चांद', 'परमात्मा का प्रेमी', 'मौत का नगर' आदि में कथा तत्त्व सूक्ष्म है फिर भी कथानक या कथा तत्त्व का हास अपने समकालीन कहानीकारों की तुलना में कम है।

अमरकान्त ने यद्यपि बिम्बों और प्रतीकों का सहारा लिया भी है लेकिन वे बिम्ब अपने समकालीन अन्य कहानीकारों से भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि अमरकान्त ने जिन बिम्बों का सहारा लिया है वे उनकी कहानियों से ही अधिकांशतः सम्बन्धित हैं। उनके रूप वेषभूषा तथा सौन्दर्य, उनकी गतिविधियाँ-चलना, बोलना, देखना, झांकना, मरकना आदि उनकी आवाजें

चीखना, चिल्लाना, किलकारी मारना, गरजना आदि। बिम्ब-विधान में अमरकान्त की महत्वपूर्ण विशेषता जो उन्हें अन्य कहानीकारों से अलग करती हैं वह हैं उनकी पात्रों की विभिन्न चेष्टाओं की पशु-पक्षियों की चेष्टाओं से तुलना करना; क्योंकि अमानवीय व्यवस्था में मनुष्य पशुवत आचरण करने के लिए विवश है। “अमरकान्त के यहां पात्रों की विशिष्ट भंगिमाओं को चित्रित करने के लिए उन पर नाना प्रकार के पशु-पक्षियों की भंगिमाओं को आरोपित किया गया है। अमरकान्त की कहानियों में पात्र प्रायः कौवे, चूहे, भेड़, कुत्ते, गीदड़.....आदि के रूप में बार-बार चेष्टाएं करते चित्रित हैं।” (डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी-अमरकान्त-वर्ष, पृष्ठ-239) इस प्रकार उनकी कहानियों में किसी प्रकार का व्यावसायिक आग्रह नहीं है बल्कि वे सधी हुई वाक्य रचना के माध्यम से बात को बड़ी ही सरल भाषा में पाठक के सामने रखने की अद्भुत कला का परिचय देते हैं। अतः पात्रानुकूल तथा वातावरण के लिए सहज भाषा में सामान्यतः आने वाले शब्दों का प्रयोग भी अमरकान्त ने किया है; जैसे-‘साला’ शब्द का तो प्रयोग बहुतायत में हुआ है। लेकिन अपशब्दों के प्रयोग में प्रायः परहेज ही किया गया है।

अमरकान्त ने प्रतीकात्मकता और सांकेतिकता का प्रयोग जीवन के व्यापक संघर्ष में अपनी भूमिका निर्वाह के लिए किया है, इसलिए उनके यहां ये तत्त्व कम हैं। सीधी सपाट शैली में बात को साफ-साफ तथा उसमें व्यंग्य का पुट देकर धारधार बनाना ही उनकी शैली की विशेषता रही है। अन्ततः इनकी कहानियां उन तमाम कहानीकारों की कहानियों से अलग हो गई हैं जो उन्हें सामाजिक जीवन के संघर्ष से अलग एक स्वयं पूर्ण कलात्मक इकाई के रूप में निर्मित करते रहे हैं। इसलिए अमरकान्त की कहानी अपने समय के फैशनों और आन्दोलनों से दूर जा पड़ी है कि उसमें समय और परिवेश के यथार्थ को एक निर्दोष कलात्मक रचाव से विधागत संपूर्णता देने के बजाय उसकी समग्रता में बांधने की कोशिश हुई है।

दिलशाद जीलानी

हिन्दी विभाग,

कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर।



हिंदी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय
श्रीनगर - 190006

ISSN 0975-6663